अनुवाद—"**प्रश्न**—मोहनीय के उदय की सहायता के अभाव में क्षुधादिवेदना न होने से यहाँ 'परीषह' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है? **समाधान**—यह सत्य है, किन्तु यहाँ वेदना के अभाव में भी केवल द्रव्यकर्म (असातावेदनीय) का सद्भाव होने की अपेक्षा 'परीषह' शब्द का उपचार किया गया है, जैसे ज्ञानावरणकर्म के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होने पर सयोग-अयोग केवली गुणस्थानों में एकाग्रचिन्तानिरोध का अभाव हो जाता है, तो भी उसका निर्जरारूप फल वहाँ उपलब्ध होने से **ध्यान** शब्द का उपचार होता है।"

पूज्यपाद स्वामी के इन वचनों से उपर्युक्त प्रश्न का समाधान अच्छी तरह से हो जाता है। माननीय सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री ने इस विषय का विस्तार से विवेचन भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ की प्रस्तावना में किया है। उसे यहाँ ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया जा रहा है—

"परीषहों का विचार छठे गुणस्थान से किया जाता है, क्योंकि श्रामण्यपद का प्रारम्भ यहीं से होता है, अत: इस गुणस्थान में सब परीषह होते हैं, यह तो ठीक ही है, क्योंकि इस गुणस्थान में प्रमाद का सद्भाव रहता है और प्रमाद के सद्भाव में क्षुधादिजन्य विकल्प और उसके परिहार के लिए चित्रवृत्ति को उस ओर से हटाकर धर्म्यध्यान में लगाने के लिए प्रयत्नशील होना ये दोनों कार्य बन जाते हैं। तथा सातवें गुणस्थान की स्थिति प्रमादरहित होकर भी इससे भिन्न नहीं है, क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों में प्रमाद और अप्रमादजन्य ही भेद है। यद्यपि विकल्प और तदनुकूल प्रवृत्ति का नाम छठा गुणस्थान है और उसके निरोध का नाम सातवाँ गुणस्थान है, तथापि इन दोनों गुणस्थानों की धारा इतनी अधिक चढ़ा-उतार की है, जिससे उनमें परीषह और उनके जय आदि कार्यों का ठीक तरह से विभाजन न होकर, ये कार्य मिलकर दोनों के मानने पड़ते हैं। **छठे गुणस्थान तक वेदनीय की उदीरणा होती है** आगे नहीं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि **वेदनीय के निमित्त से जो क्षुधादिजन्य वेदनकार्य छठे गुणस्थान में होता है वह आगे कथमपि सम्भव नहीं**। विचारकर देखने पर बात तो ऐसी ही प्रतीत होती है और है भी वह वैसी ही, क्योंकि अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में जब जीव की न तो बाह्यप्रवृत्ति होती है और न बाह्यप्रवृत्ति के अनुकूल परिणाम ही होते हैं, **साथ ही कषायों का उदय अव्यक्तरूप से अबुद्धिपूर्वक होता है**, तब वहाँ क्षुधादि परीषहों का सद्भाव मानना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय हो जाता है। इसलिए यहाँ यह देखना है कि आगे के गुणस्थानों में इन परीषहों का सद्भाव किस दृष्टि से माना गया है।

"किसी भी पदार्थ का विचार दो दृष्टियों से किया जाता है, एक तो कार्य की दृष्टि से और दूसरे कारणकी दृष्टि से। परीषहों का कार्य क्या है और उनके कारण

क्या हैं, इस विषय का साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह शास्त्रों में किया है। परीषह तथा उनके जय का अर्थ है 'बाधा के कारण उपस्थित होने पर उनमें जाते हुए अपने चित्त को रोकना तथा स्वाध्याय, ध्यान आदि आवश्यक कार्यों में लगे रहना।' परीषह और उनके जय के इस स्वरूप को ध्यान में रखकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक प्रमत्तसंयत गुणस्थान ही ऐसा है, जिसमें बाधा के कारण उपस्थित होने पर उनमें चित्त जाता है और उनसे चित्तवृत्ति को रोकने के लिए यह जीव उद्यमशील होता है। किन्तु आगे के गुणस्थानों की स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ बाह्य कारणों के रहने पर भी उनमें चित्तवृत्ति का रंचमात्र भी प्रवेश नहीं होता। इतना ही नहीं, कुछ आगे चलकर तो यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि वहाँ न तो बाह्य कारण ही उपस्थित होते हैं और न चित्तवृत्ति ही शेष रहती है। **इसलिए इन गुणस्थानों में केवल अन्तरंग कारणों को ध्यान में रखकर ही परीषहों का निर्देश किया गया है।** कारण भी दो प्रकार के होते हैं : एक बाह्य कारण और दूसरे अन्तरङ्ग कारण। बाह्य कारणों के उपस्थित होने का तो कोई नियम नहीं है। किन्हीं को उनकी प्राप्ति सम्भव भी है और किन्हीं को नहीं भी। परन्तु अन्तरङ्ग कारण सबके पाये जाते हैं। यही कारण है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में परीषहों के कारणों का विचार करते समय मुख्यरूप से अन्तरङ्ग कारणों का ही निर्देश किया है। इसी से तत्त्वार्थसूत्र में वे अन्तरंग कारण ज्ञानावरण, वेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय और अन्तराय के उदयरूप कहे हैं, अन्यरूप नहीं।

"कुल परीषह बाईस हैं। इनमें से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण के उदय में होते हैं। ज्ञानावरण का उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है, इसलिए इनका सद्भाव क्षीणमोह गुणस्थान तक कहा है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रज्ञा और अज्ञान के निमित्त से जो विकल्प प्रमत्तसंयत जीव के हो सकता है, वह अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में भी होता है। आगे के गुणस्थानों में इस प्रकार के विकल्प के न होने पर भी वहाँ केवल ज्ञानावरण का उदय पाया जाता है, इसलिए वहाँ इन परीषहों का सद्भाव कहा है।

"अदर्शन परीषह दर्शनमोहनीय के उदय में और अलाभ परीषह अन्तराय के उदय में होते हैं। यह बात किसी भी कर्मशास्त्र के अभ्यासी से छिपी हुई नहीं है कि दर्शनमोहनीय का उदय अधिक से अधिक अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होता है, इसलिए अदर्शन परीषह का सद्भाव अधिक से अधिक इसी गुणस्थान तक कहा जा सकता है और अन्तराय का उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है, इसलिए अलाभ परीषह का सद्भाव वहाँ तक कहा है। किन्तु कार्यरूप में ये दोनों परीषह भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही जानने चाहिए। आगे इनका सद्भाव दर्शनमोहनीय के उदय और अन्तराय के उदय की अपेक्षा ही कहा है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"प्रसङ्ग से यहाँ इस बात का विचार कर लेना भी इष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य **गृद्धपिच्छ** बादरसाम्पराय जीव के सब परीषहों का सद्भाव बतलाते हैं। उन्हें बादरसाम्पराय शब्द का अर्थ क्या अभिप्रेत रहा होगा? हम यह तो लिख ही चुके हैं कि दर्शनमोहनीय का उदय अप्रमत्तसंयतगुण स्थान तक ही होता है, इसलिए अदर्शन परीषह का सद्भाव अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से आगे कथमपि नहीं माना जा सकता। **ऐसी अवस्था में बादरसाम्पराय का अर्थ स्थूलकषाययुक्त जीव ही हो सकता है।** यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धि में इस पद की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि **"यह गुणस्थानविशेष का ग्रहण नहीं है। तो क्या है? सार्थक निर्देश है। इससे प्रमत्त आदि संयतों का ग्रहण होता है।"** [८४]

"किन्तु तत्त्वार्थभाष्य में **'बादरसम्पराये सर्वे'** (९/१२) इस सूत्र की व्याख्या इन शब्दों में की है—**'बादरसम्परायसंयते सर्वे द्वाविंशतिरपि परीषहाः सम्भवन्ति।'** अर्थात् बादरसाम्पराय-संयत के सब अर्थात् बाईस परीषह ही सम्भव हैं। तत्त्वार्थभाष्य के मुख्य व्याख्याकार **सिद्धसेनगणी** हैं। वे तत्त्वार्थभाष्य के उक्त शब्दों की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं—

"बादरः स्थूलः सम्परायः कषायस्तदुदयो यस्सासौ बादरसम्परायः संयतः। स च मोह-प्रकृतीः कश्चिदुपशमयतीत्युपशमकः। कश्चित् क्षपयतीति क्षपकः। तत्र सर्वेषां द्वाविंशतेरपि क्षुधादीनां परीषहाणामदर्शनान्तानां सम्भवः---।" (त.भाष्यवृत्ति/९/१२)।

"जिसके कषाय स्थूल होता है, वह बादरसम्परायसंयत कहलाता है। उनमें से कोई मोहनीय का उपशम करता है, इसलिए उपशमक कहलाता है और कोई क्षय करता है, इसलिए क्षपक कहलाता है। इसके सभी बाईस क्षुधा आदि परीषहों का सद्भाव सम्भव है।

"इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि सिद्धसेनगणी के अभिप्राय से **तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वाति** को यहाँ **बादरसम्पराय** पद से नौवाँ गुणस्थान ही इष्ट है। **प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी** ने तत्त्वार्थसूत्र (९/१२) की व्याख्या में यही अर्थ स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—"जिसमें सम्पराय (कषाय) की बादरता अर्थात् विशेषरूप में सम्भावना हो, उस **बादरसम्पराय नामक नौवें गुणस्थान में बाईस परीषह** होते हैं, क्योंकि परीषहों के कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं।"

"बादरसाम्पराय' पद की ये दो व्याख्याएँ हैं, जो क्रमशः सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य में उपलब्ध होती हैं। सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या के अनुसार बादरसाम्पराय

---

८४. "नेदं गुणस्थानविशेषग्रहणम्। किं तर्हि ? अर्थनिर्देशः। तेन प्रमत्तादीनां संयतादीनां ग्रहणम्।" सर्वार्थसिद्धि/ ९/१२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पद गुणस्थान-विशेष का सूचक न होकर अर्थपरक निर्देश होने से दर्शनमोहनीय के उदय में अदर्शनपरीषह होता है, इस अर्थ की सङ्गति बैठ जाती है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्य की व्याख्या को स्वीकार करने पर एक नयी अड़चन उठ खड़ी होती है। दर्शनमोहनीय का सत्त्व उपशान्तमोह-गुणस्थान तक रहता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने दर्शनमोहनीय के सत्त्व की अपेक्षा बादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थान तक अदर्शनपरीषह कहा होगा। किन्तु इस मत को स्वीकार करने पर दो नयी आपत्तियाँ और सामने आती हैं। प्रथम तो यह कि यदि उन्होंने दर्शनमोहनीय के सत्त्व की अपेक्षा अदर्शनपरीषह का सद्भाव स्वीकार किया है, तो उसका सद्भाव ग्यारहवें गुणस्थान तक कहना चाहिए। दूसरी यह कि '**क्षुत्पिपासा शीतोष्ण**---' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि '**पञ्चानामेव कर्मप्रकृतीनामुदयादेते परीषहाः प्रादुर्भवन्ति।**' अर्थात् पाँच कर्मप्रकृतियों के उदय से ये परीषह उत्पन्न होते हैं। सो पूर्वोक्त अर्थ के स्वीकार करने पर इस कथन की सङ्गति नहीं बैठती दिखलाई देती। क्योंकि एक ओर तो दर्शनमोहनीय के सत्त्व की अपेक्षा अदर्शनपरीषह को नौवें गुणस्थान तक स्वीकार करना और दूसरी ओर सब परीषहों को पाँच कर्मों के उदय का कार्य कहना, ये परस्पर विरोधी दोनों कथन कहाँ तक युक्तियुक्त हैं, यह विचारणीय हो जाता है। स्पष्ट है कि सिद्धसेनगणी की टीका के अनुसार **तत्त्वार्थभाष्य** का कथन न केवल स्खलित है, अपितु वह मूल सूत्रकार के अभिप्राय के प्रतिकूल भी है, क्योंकि मूलसूत्रकार ने इन परीषहों का सद्भाव कर्मों के उदय की मुख्यता से ही स्वीकार किया है। अन्यथा वे अदर्शनपरीषह का सद्भाव और चारित्रमोह के निमित्त से होने वाले नाग्न्य आदि परीषहों का सद्भाव उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक अवश्य कहते।

"नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार, ये सात परीषह चारित्रमोहनीय के उदय में होते हैं। सामान्यतः चारित्रमोहनीय का उदय यद्यपि **सूक्ष्मसाम्परायिक** नामक दसवें गुणस्थान तक होता है, इसलिए इन सात परीषहों का सद्भाव दसवें गुणस्थान तक कहना चाहिए था, ऐसी शंका की जा सकती है, परन्तु इनका दसवें गुणस्थान तक सद्भाव न बतलाने के दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि चारित्रमोहनीय के अवान्तरभेद क्रोध, मान और माया का तथा नौ नोकषायों का उदय नौवें गुणस्थान के अमुक भाग तक ही होता है, इसलिए इन परीषहों का सद्भाव नौवें गुणस्थान तक कहा है। दूसरा यह कि दसवें गुणस्थान में यद्यपि चारित्रमोहनीय का उदय होता है अवश्य, पर एक लोभ कषाय का ही उदय होता है और वह भी अतिसूक्ष्म, इसलिए इनका सद्भाव दसवें गुणस्थान तक न कहकर मात्र नौवें गुणस्थान तक कहा है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

"तथा क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल, ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय में होते हैं। वेदनीय कर्म का उदय '**जिन**' के भी होता है, इसलिए इनका सद्भाव वहाँ तक कहा है।

"**इस प्रकार अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में सूत्रकार ने जो परीषहों का सद्भाव कहा है, उसमें उनकी दृष्टि कारण को ध्यान में रखकर विवेचन करने की रही है।**" (स.सि./भा.ज्ञा./प्रस्ता./पृ. ३०-३३)।

१.७.७. **साम्प्रदायिकता का आरोप और उसका निराकरण**—श्वेताम्बर विद्वान् **पं० सुखलाल संघवी** ने सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद स्वामी पर साम्प्रदायिक अभिनिवेश से ग्रस्त होने का आरोप लगाते हुए लिखा है—"जिन बातों में रूढ़ श्वेताम्बरसम्प्रदाय के साथ दिगम्बरसम्प्रदाय का विरोध है, उन सभी बातों को सर्वार्थसिद्धि के प्रणेता ने सूत्रों में संशोधन करके या उनके अर्थ में खींचतान करके अथवा असंगत अध्याहार आदि करके दिगम्बरसम्प्रदाय की अनुकूलता की दृष्टि से चाहे जिस रीति से, सूत्रों में से उत्पन्न करके निकालने का साम्प्रदायिक प्रयत्न किया है। वैसा प्रयत्न भाष्य में कहीं दिखाई नहीं देता। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि **सर्वार्थसिद्धि** साम्प्रदायिक विरोध का वातावरण जम जाने के बाद आगे चलकर लिखी गई है और **भाष्य** इस विरोध के वातावरण से मुक्त है।" (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ. ६४)।

इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—"इस प्रकार अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में सूत्रकार ने जो परीषहों का सद्भाव कहा है, उसमें उनकी दृष्टि कारण को ध्यान में रखकर विवेचन करने की ही रही है और इसीलिए सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद ने पहले सूत्रकार की दृष्टि से '**एकादश जिने**' इस सूत्र का व्याख्यान किया है। अनन्तर जब उन्होंने देखा कि कुछ अन्य विद्वान् अन्य साधारण मनुष्यों के समान केवली के कारणपरक परीषहों के उल्लेख का विपर्यास करके भूख-प्यास आदि बाधाओं का ही प्रतिपादन करने लगे हैं, तो उन्होंने यह बतलाने के लिए कि केवली के कार्यरूप में ग्यारह परीषह नहीं होते, '**न सन्ति**' पद का अध्याहार कर उस सूत्र से दूसरा अर्थ फलित किया है। इसमें न तो उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि रही है और न ही उन्होंने तोड़-मरोड़कर उसका अर्थ किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि तो उनकी है, जो उसे इस दृष्टिकोण से देखते हैं। आचार्यों में मतभेद हुए हैं, और हैं, पर सब मतभेदों को साम्प्रदायिक दृष्टि का सेहरा बाँधना कहाँ तक उचित है, यह समझने और अनुभव करने की बात है। **आचार्य पूज्यपाद** यदि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के होते, तो वे ऐसा प्रयत्न न कर सूत्र का ही कायाकल्प कर सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी स्थिति को बिल्कुल स्पष्ट रखा है। तत्त्वतः देखा

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जाय, तो एक मात्र यही उदाहरण उनकी साहित्यिक प्रामाणिकता की कसौटी बन सकता है।'' (स.सि./भा.ज्ञा./प्रस्ता./पृ. ३३)।

इस प्रकार '**एकादश जिने**' सूत्र का दिगम्बर-परम्परानुसार औचित्य सिद्ध हो जाता है। अतः वह **दिगम्बरमत के विरुद्ध नहीं है**। दूसरे शब्दों में, उसके अनुसार केवलिभुक्ति सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत **भाष्यकार** साधु के लिए वस्त्रपात्रादि को संयम का साधन मानते हैं, जिससे स्पष्ट है कि वे सवस्त्रमुक्ति के समर्थक हैं और सवस्त्रमुक्ति की व्यवस्था में सात प्रकार का पात्रनिर्योग संभव होने से केवलिभुक्ति मानने में कोई बाधा नहीं आती। अर्थात् भाष्यकार केवलिभुक्ति के प्रतिपादक हैं। यह भी सूत्रकार और भाष्यकार में सम्प्रदायभेद होने का एक प्रबल प्रमाण है।

संक्षेप में, तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित निम्नलिखित सिद्धान्त भाष्यकार की मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध हैं—

१. **अन्यलिंगिमुक्ति-निषेध**
२. **गृहिलिंगिमुक्ति-निषेध**
३. **सवस्त्रमुक्ति-निषेध**
४. **स्त्रीमुक्ति-निषेध**
५. **केवलिभुक्ति-निषेध**
६. **अपरिग्रह की वस्त्रपात्रादिग्रहण-विरोधी परिभाषा**
७. **तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध हेतुओं की सोलह संख्या**

भाष्यकार की मान्यताएँ सूत्रकार की इन मान्यताओं के सर्वथा विपरीत हैं। इससे सिद्ध है कि दोनों भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि सूत्र और भाष्य के कर्त्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, एक ही व्यक्ति नहीं।

२
सूत्र और भाष्य में विसंगतियाँ

सूत्र और **भाष्य** भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की कृतियाँ हैं, एक ही व्यक्ति की नहीं, इसका दूसरा प्रमाण यह है कि दोनों में अनेक विसंगतियाँ हैं।

सूत्र और भाष्य के एककर्तृत्व का निषेध करते हुए **पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार** लिखते हैं—''सूत्र और भाष्य जब दोनों एक ही आचार्य की कृति हों, तब उनमें परस्पर असंगति, अर्थभेद, मतभेद अथवा किसी प्रकार का विरोध न होना चाहिए।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और यदि उनमें कहीं पर ऐसी असंगति, भेद अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना चाहिए कि वे दोनों एक ही आचार्य की कृति नहीं हैं, उनका कर्त्ता भिन्न-भिन्न है और इसलिए सूत्र का वह भाष्य 'स्वोपज्ञ' नहीं कहला सकता। श्वेताम्बरों के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्य में ऐसी असंगति, भेद अथवा विरोध पाया जाता है।''[८५] इसके उन्होंने चार उदाहरण पेश किये हैं,[८६] जिनका सार नीचे दिया जा रहा है।

२.१. 'यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्'

प्रथम अध्याय में अवधिज्ञान के दो भेद बतलाने के लिए '**द्विविधोऽवधिः**' (त. सू./श्वे./१/२१) सूत्र कहा गया है। उसके भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि वे दो भेद हैं: **भवप्रत्यय** और **क्षयोपशमनिमित्त**।[८७] इनमें प्रथम देव और नारकियों को होता है और दूसरा शेष जीवों को, यह बतलाने के लिए अगला सूत्र कहा गया है—'**भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्**' (त.सू./श्वे./१/२२), इसके अनुसार दूसरा सूत्र होना चाहिए था '**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्**'। किन्तु इसकी जगह '**यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्**' (त.सू./श्वे./१/२३) पाठ है। **क्षयोपशमनिमित्तः** के स्थान में **यथोक्तनिमित्तः** पाठ सर्वथा असंगत है, क्योंकि **यथोक्तनिमित्त** नाम का कोई अवधिज्ञान नहीं होता, न ही **द्विविधोऽवधिः** के भाष्य में **भवप्रत्यय** के साथ **यथोक्तनिमित्तः** पाठ है। अवधिज्ञान के प्रसंग में '**यथोक्तनिमित्त' का अर्थ है**—वह अवधिज्ञान जिसकी उत्पत्ति के निमित्तभूत क्षयोपशम का पूर्व में वर्णन किया गया है। किन्तु तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र (श्वेताम्बर-तत्त्वार्थसूत्र) के प्रथम-अध्यायगत किसी भी पूर्व सूत्र में उसकी उत्पत्ति के निमित्त का कथन नहीं है। अतः **यथोक्तनिमित्तः** शब्द का प्रयोग सर्वथा असंगत है। यदि सूत्र और भाष्य दोनों का कर्त्ता एक ही होता तो वह '**भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्**' के बाद '**क्षयोपशनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्**' यही सूत्र निबद्ध करता, जिससे भाष्य में यह लिखने की जरूरत न रहती कि **यथोक्तनिमित्तः** से तात्पर्य **क्षयोपशमनिमित्तः**[८८] से है। किन्तु ऐसा नहीं हुआ है। इससे सुस्पष्ट है कि सूत्रकार कोई और है तथा भाष्यकार कोई और। भाष्यकार ने सूत्रकार के सूत्र में कोई परिवर्तन किये बिना भाष्य लिख दिया है। इसीलिए **यथोक्तनिमित्तः** के प्रयोग से उत्पन्न विसंगति को दूर करने के लिए उन्हें यह लिखना पड़ा है कि यहाँ **यथोक्तनिमित्तः** का अर्थ **क्षयोपशमनिमित्तः** है।

---

८५. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश/पृ. १२६।
८६. वही/पृ. १२६-१३२।
८७. ''भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च।'' तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १/२१।
८८. ''यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः।'' तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/२३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२.२. आक्षेप का निराकरण

डॉ० सागरमल जी ने मुख्तार जी के इस विसंगति-प्रदर्शन पर आक्षेप किया है और **यथोक्तनिमित्तः** के प्रयोग का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसकी जो व्याख्या की है, वह **पाणिनि** और **पतंजलि** को भी चक्कर में डाल देने वाली है। वे लिखते हैं—''यथोक्तनिमित्त का पूरा स्पष्टीकरण है—क्षयोपशम के निमित्त आगमों में जैसी तपसाधना बतायी गयी है, वैसी तपसाधना से प्राप्त होनेवाला अर्थात् साधनाजन्य अवधिज्ञान। यहाँ मुख्तार जी कहते हैं कि यदि मूलसूत्र में 'यथोक्त' कहा, तो उसके पहले तत्त्वार्थ के किसी पूर्व सूत्र में उसका उल्लेख होना चाहिए था। किन्तु हमें ध्यान रखना है कि उमास्वाति तो आगमिक परम्परा के हैं, अतः उनकी दृष्टि में यथोक्त का अर्थ है—आगमोक्त। वस्तुतः जो परम्परा आगम को ही नहीं मानती हो, उसको सूत्र में प्रयुक्त **यथोक्त** शब्द का वास्तविक तात्पर्य कैसे समझ में आयेगा?'' (जै.ध.या.स./पृ. २८४)।

ऐसा लगता है जैसे डॉक्टर साहब उमास्वाति के हृदय में निवास करके आये हों और आँखों देखा हाल कह रहे हों। अन्यथा उन्होंने यह कैसे जान लिया कि उमास्वाति की दृष्टि में **यथोक्त** का अर्थ **आगमोक्त** है? उनके तो किसी भी उल्लेख से ऐसा सिद्ध नहीं होता। स्वबुद्धि-कल्पित अर्थ को उमास्वाति के नाम पर चढ़ा देना न्यायविरुद्ध है। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि उमास्वाति आगमिक परम्परा के हैं और सूत्रकार हैं, तो आगमिक परम्परा का होने का अर्थ यह तो नहीं है कि आगम के विषय को स्पष्ट शब्दों में न कहकर ऐसे कूट शब्दों में कहा जाय जो विवक्षित अर्थ का बोध ही न करावें, भ्रम पैदा करें, भूलभुलैयाँ में डाल दें? यदि उमास्वाति को **यथोक्तनिमित्तः** पद से **आगमोक्तनिमित्तः** अर्थ अभीष्ट था, तो वे इसी पद का प्रयोग कर सकते थे और **आगमोक्तनिमित्तः** शब्द से **तपोनिमित्तः** अर्थ अभिप्रेत था, तो वे इस शब्द का भी प्रयोग कर सकते थे। अन्यत्र तो उन्होंने ऐसे कूट शब्द का प्रयोग नहीं किया, स्पष्ट शब्द में ही प्रतिपादन किया है, जैसे '**यथोक्तमार्गो मोक्षमार्गः**' न कह कर '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' कहा है। इसी प्रकार उपर्युक्त सूत्र में **यथोक्तनिमित्तः** न कहकर **आगमोक्तनिमित्तः, तपोनिमित्तः** या **गुणप्रत्ययः** कह सकते थे, किन्तु नहीं कहा। इससे सिद्ध है कि उमास्वाति को यथोक्तनिमित्तः से 'आगमोक्तनिमित्तः' या 'तपोनिमित्तः' अर्थ अपेक्षित नहीं था। सिद्धसेनगणी और हरिभद्रसूरि ने भी उसे इन अर्थों का प्रतिपादक नहीं बतलाया है। इन सबने उसे **क्षयोपशमनिमित्तः** अर्थ का सूचक कहा है।[८९] अतः 'यथोक्तनिमित्तः' पद को 'आगमोक्तनिमित्तः' या 'तपोनिमित्तः' अर्थ का सूचक कहना प्रामाणिक नहीं है।

---

८९. सिद्धसेनगणी : तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति १/२३/पृ. ९७, हारिभद्रीयवृत्ति / तत्त्वार्थसूत्र / १ / २३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और डॉ० साहब के द्वारा जो यह कहा गया है कि "जो परम्परा आगम को ही न मानती हो, उसको सूत्र में प्रयुक्त **यथोक्त** शब्द का वास्तविक तात्पर्य कैसे समझ में आयेगा?" इस विषय में मेरा निवेदन है कि सूत्रप्रयुक्त **यथोक्त** के अर्थ को समझने के लिए आगम को मानने की जरूरत नहीं है, सूत्रग्रन्थ के रचना-नियमों को जानने और मानने की आवश्यकता है। सूत्रग्रन्थ का नियम है कि उसमें प्रयुक्त **यथा, तथा, तद्, सः** आदि शब्दों से उसी ग्रन्थ के पूर्वनिर्दिष्ट विषय सूचित किये जाते हैं, अन्य ग्रन्थ के नहीं। जैसे—

'स यथानाम' (त.सू./श्वे./८/२३) इस सूत्र में **स** (सः) शब्द **'विपाकोऽनुभावः'** (त.सू./श्वे. ८/२२) इस पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट **अनुभाव** अर्थ का सूचक है और **यथा** शब्द इसी अष्टम अध्याय के पूर्वसूत्रों में वर्णित ज्ञानावरणादि सभी कर्म प्रकृतियों के नाम के सादृश्य का सूचक है। इस तरह पूरे सूत्र का अर्थ है : ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मप्रकृतियों का अनुभाव (फल) उन प्रकृतियों का जैसा नाम है, वैसा (नाम के अनुसार) ही हुआ करता है। जैसे ज्ञानावरण ज्ञान को आवृत करता है और दर्शनावरण दर्शन को, दर्शनमोहनीय दृष्टि को मोहित करता है और चारित्रमोहनीय चारित्र को।

इसी प्रकार **यथोक्तनिमित्तः** में भी **यथा** शब्द **तत्त्वार्थ** के ही पूर्वसूत्र में वर्णित अवधिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त का सूचक है। किन्तु ऐसा कोई निमित्त, ग्रन्थ के किसी पूर्व सूत्र में वर्णित नहीं है, इसलिए 'यथोक्तनिमित्तः' प्रयोग असंगत है। **यथोक्तनिमित्तः** से किसी दूसरे ग्रन्थ में वर्णित अवधिज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त सूचित नहीं हो सकता, क्योंकि उसे सूचित करनेवाला कोई शब्द सूत्र में प्रयुक्त नहीं है। यदि **यथागमोक्तनिमित्तः** ऐसा प्रयोग होता, तभी **आगमोक्त तपरूप निमित्त** अर्थ सूचित हो सकता था। किन्तु ऐसा प्रयोग न होने से यह अर्थ सूचित नहीं होता। अतः सिद्ध है कि **यथोक्तनिमित्तः** पद ग्रन्थ के ही पूर्वसूत्र में वर्णित निमित्त की सूचना देता है। किन्तु पूर्वसूत्र में ऐसे किसी निमित्त का वर्णन नहीं है, इससे साबित होता है कि उसका प्रयोग असंगत है, अवैज्ञानिक है।

उक्त प्रतिपक्षी विद्वान् लिखते हैं—"अवधिज्ञान के दो भेद हैं—**भवप्रत्यय** और **निमित्तजन्य** और यहाँ निमित्त शब्द का अर्थ प्रयत्न या तपसाधना है। इसलिए **यथोक्त-निमित्तः** इस सूत्र का तात्पर्य है क्षयोपशम हेतु की गई **आगमोक्ततपसाधनाजन्य**" (जै. ध. या. स./पृ. २८४)।

अवधिज्ञान के भेद का **निमित्तजन्य** यह नामकरण अयुक्तिसंगत है, क्योंकि भवप्रत्यय अवधिज्ञान भी निमित्तजन्य है। प्रत्यय का अर्थ ही है निमित्त। भाष्यकार स्वयं कहते हैं—"**भवप्रत्ययं भवहेतुकं भवनिमित्तमित्यर्थः**" (त.सू./श्वे./१/२२/

पृ. ४५)। इस प्रकार '**निमित्तजन्य अवधिज्ञान**' शब्द में **भवप्रत्यय** और **गुणप्रत्यय** (तपोनिमित्त) दोनों अवधिज्ञान गर्भित हो जाते हैं। अतः उपर्युक्त नामकरण युक्तिसंगत नहीं है।

तथा **निमित्त** शब्द से '**क्षयोपशम के लिए की गई तपसाधना**' यह अर्थ ग्रहण करना भी प्रामाणिक नहीं है। न भाष्यकार ने यह अर्थ किया है, न सिद्धसेनगणी और हरिभद्रसूरि, इन टीकाकारों ने। इन सबने तो निमित्त शब्द से क्षयोपशमरूप निमित्त अर्थ ही प्रतिपादित किया है। अतः 'तपसाधनारूप निमित्त' अर्थ ग्रहण करना अप्रामाणिक है।

२.३. '**क्षयोपशमनिमित्तः**' रखने का प्रयोजन

यद्यपि यह सत्य है कि **भवप्रत्यय** और **क्षयोपशमनिमित्त** इन नामों की अपेक्षा **भवप्रत्यय** और **गुणप्रत्यय** नाम दोनों के पारस्परिक भेद को अच्छी तरह स्पष्ट करते हैं, तथापि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ में तथा तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में **क्षयोपशमनिमित्त** नाम का प्रयोग विशेष प्रयोजन से किया गया है। वह प्रयोजन है **भवप्रत्यय** में भव के निमित्त की प्रधानता द्योतित करना तथा **क्षयोपशमनिमित्त** में भव के निमित्त का अभाव दर्शाना। हरिभद्रसूरि इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"**यथोक्तनिमित्तमिति-यथोक्तं निमित्तं यस्य स तथा, भवोऽप्युक्तमेव निमित्तमिति, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः।**" (हारि.वृत्ति/त.सू./ १/२३/पृ. ७८-७९)।

अनुवाद—"यथोक्तनिमित्त का अर्थ है 'जैसा निमित्त बतलाया गया है, वैसे निमित्तवाला।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भवनिमित्तवाला अवधिज्ञान भी इस दूसरे भेद में गर्भित हो जाता है, क्योंकि भव को भी अवधिज्ञान का निमित्त कहा गया है। अतः उसे अलग करने के लिए 'क्षयोपशमनिमित्तवाला' यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।"

पूज्यपाद स्वामी ने भी यही प्रयोजन बतलाया है। वे कहते हैं—"**सर्वस्य क्षयोपशम-निमित्तत्वे क्षयोपशमग्रहणं नियमार्थं क्षयोपशम एव निमित्तं न भव इति।**" (स. सि./ १/२२)। अर्थात् अवधिज्ञानमात्र क्षयोपशम के निमित्त से होता है, तो भी सूत्र में 'क्षयोपशम' पद का ग्रहण यह नियम करने के लिए किया गया है कि देव-नारकों को छोड़कर शेष जीवों के मात्र क्षयोपशम के निमित्त से होता है, भव के निमित्त से नहीं।

इन प्रमाणों से भी सिद्ध है कि 'यथोक्तनिमित्तः' वचन से 'क्षयोपशमनिमित्तः' अर्थ ही अभिप्रेत है, 'आगमोक्त तपरूप निमित्त' अर्थ नहीं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२.४. 'यथोक्तनिमित्तः' को हटाने का आरोप मिथ्या

डॉ० सागरमल जी ने आरोप लगाया है कि **पूज्यपाद स्वामी** ने भाष्य के आधार पर सूत्र में **यथोक्तनिमित्तः** के स्थान पर **क्षयोपशमनिमित्तः** पाठ कर दिया है। (जै.ध. या.स./पृ. २८५)। किन्तु यह आरोप युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यदि उन्हें संशोधन करना होता, तो वे दिगम्बरपरम्परा के प्राचीन ग्रन्थ षट्खण्डागम के आधार पर अधिक स्पष्टार्थबोधक **गुणप्रत्यय** नाम ही उसके स्थान में रखते।[९०] सर्वार्थसिद्धि टीका में उन्होंने षट्खण्डागम का प्रचुर उपयोग किया भी है। स्वयं डॉ० सागरमल जी **गुणप्रत्यय** नाम को अधिक उपयुक्त मानते हैं।[९१] पूज्यपाद स्वामी ने विरासत में प्राप्त इस नाम का प्रयोग नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने मूल सूत्र में कोई परिवर्तन नहीं किया। उन्हें '**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्**' यही पाठ प्राप्त हुआ था। भाष्यकार को जो '**यथोक्तनिमितः**'-वाला पाठ मिला था, उसने अवश्य उनके सामने विसंगतिजन्य समस्या खड़ी कर दी थी। इसलिए उन्होंने ही **सर्वार्थसिद्धि** के आधार पर '**यथोक्त-निमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः**' (त.भाष्य/१/२३), ऐसी व्याख्या कर संगति बिठाने की चेष्टा की है। और इस चेष्टा तथा हरिभद्रसूरि के उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि **यथोक्तनिमित्तः** पाठ अत्यन्त अस्पष्ट और असंगत है। अतः उक्त सूत्र के कर्त्ता भाष्यकार नहीं हो सकते। यदि वे होते, तो सूत्र में **यथोक्तनिमित्तः** विशेषण का प्रयोग कर उपर्युक्त विसंगति उत्पन्न न करते। वे उसके स्थान में '**क्षयोपशमनिमित्तः**' विशेषण प्रयुक्त करते, जिससे भाष्य में उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता न रहती। डॉ० सागरमल जी ने भी **यथोक्तनिमित्तः** की अपेक्षा **क्षयोपशमनिमित्तः** पाठ को अधिक स्पष्ट माना है। वे लिखते हैं—"पुनः **सर्वार्थसिद्धि** में सुधरा हुआ अधिक स्पष्ट पाठ होना यही सूचित करता है कि वह भाष्य से परवर्ती है।" (जै.ध.या.स./पृ. २८५)। किन्तु उक्त पाठ को सुधरा हुआ मानने का उनके पास कोई प्रमाण नहीं है, यह उनकी स्वबुद्धिप्रसूत कल्पना है। पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि उक्त पाठ न तो सुधरा हुआ है, न ही सर्वार्थसिद्धि भाष्य से परवर्ती है।

२.५. 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः---'

मुख्तार जी ने **सूत्र** और **भाष्य** में दूसरी विसंगति 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' में इस प्रकार बतलायी है—"**इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः**" (त.सू./६/५) इस सूत्र के दिगम्बरमान्य और

---

९०. "तं च ओहिणाणं दुविहं भवपच्चइयं चेव गुणपच्चइयं चेव।" ष.खं./पु.१३/५,५,५३/पृ. २८०।

९१. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / पृ. २८५।

श्वेताम्बरमान्य पाठों में तथा सिद्धसेनगणी और हरिभद्र की टीकाओं में उद्धृत पाठों में 'इन्द्रिय' शब्द पहले और 'अव्रत' शब्द तीसरे स्थान पर है। किन्तु भाष्य में पहले 'अव्रत' की व्याख्या की गई है, उसके बाद 'कषाय' की, फिर 'इन्द्रिय' की। यह **सूत्रक्रमोल्लंघन नाम की असंगति** है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। यदि भाष्य स्वोपज्ञ होता तो इस क्रमोल्लंघन की असंगति का प्रसंग न आता।

सिद्धसेनगणी ने इस असंगति का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा है—"यहाँ इन्द्रिय और कषाय का उल्लंघन करके भाष्यकार ने अव्रतों की व्याख्या की है। इसका प्रयोजन यह बतलाना है कि हिंसादि अव्रत समस्त आस्रवसमूह के मूल हैं। उनमें प्रवृत्त होने पर ही आस्रवों में प्रवृत्ति होती है और उनसे निवृत्त होने पर ही समस्त आस्रवों से निवृत्ति होती है। **सूत्र में 'इन्द्रिय' शब्द का आदि में सन्निवेश सूत्रबन्ध में शोभा लाने के लिए किया गया है।**"[९२]

गणी जी की ये दोनों युक्तियाँ अयुक्त हैं तथा "सूत्रबन्ध (सूत्ररचना) में शोभा लाने के लिए 'अव्रत' शब्द के स्थान में 'इन्द्रिय' शब्द का विन्यास किया गया है।" यह युक्ति तो हास्यास्पद है। इसे स्वीकार करने में निम्नलिखित बाधाएँ आती हैं—

१. हिंसादि अव्रत समस्त आस्रवों के मूल नहीं हैं, क्योंकि महाव्रत धारण कर लेने पर भी संज्वलनकषाय के उदय से सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थान तक कर्मों का साम्परायिक आस्रव होता है। अतः समस्त आस्रवों का मूल बतलाने के लिए सूत्र के आदि में 'अव्रत' शब्द के सन्निवेश का औचित्य नहीं था। इससे साबित होता है कि सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द का सन्निवेश सूत्ररचना की शोभा के लिए नहीं, अपितु आस्रवभेदों में प्रथमतः निर्देश्य होने के कारण ही हुआ है।

२. इस नियम का प्रतिपादन किसी भी शास्त्र में नहीं किया गया है कि सूत्रबन्ध का प्रमुख प्रयोजन सूत्र की शब्दरचना में शोभा उत्पन्न करना है और सूत्र के प्रतिपाद्य अर्थ का बोध कराना गौण प्रयोजन है। व्याकरणशास्त्र में प्रतिपाद्य अर्थ का बोध कराना ही सूत्रबन्ध का एकमात्र प्रयोजन बतलाया गया है। अतः सूत्रबन्ध में शोभा लाने के लिए उसके उचित शब्दक्रम को बदलकर उसके क्रमिक अर्थावगम में बाधा उत्पन्न

---

९२. "तत्रेन्द्रियकषायानुल्लङ्घ्याव्रतान्येव व्याचष्टे भाष्यकारः। किं पुनरत्र प्रयोजनमिति? उच्यते- अयमभिप्रायो भाष्यकारस्य-हिंसादीन्यव्रतानि सकलास्रवजालमूलानि तत्प्रवृत्तावास्रवेष्वेव प्रवृत्तिस्तन्निवृत्तौ च सर्वास्रवेभ्यो निवृत्तिरित्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं सूत्रोक्तक्रममतिक्रम्याव्रतानि व्याचष्टे भाष्यकारः। **सूत्रबन्धशोभाहेतोरिन्द्रियादिसन्निवेशः**।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ६/६/पृ. १०।

करना सूत्रबन्ध के नियम के विरुद्ध है। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द का विन्यास सूत्रबन्ध की शोभा के प्रयोजन से नहीं किया, बल्कि आस्रवभेदों में प्रथमतः उल्लेख्य होने के कारण ही किया है।

३. सूत्र या वाक्य में शब्दप्रयोगजन्य शोभा की उत्पत्ति अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों के प्रयोग से होती है। किन्तु उपर्युक्त सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द के विन्यास से किसी भी शब्दालंकार की उत्पत्ति नहीं हुई, अतः शब्दिक शोभा का रंचमात्र भी आविर्भाव नहीं हुआ है। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सूत्र के आदि में **इन्द्रिय** शब्द का सन्निवेश सूत्र रचना में शोभा उत्पन्न करने के लिए नहीं, अपितु आस्रवभेदों में प्रथम स्थान रखने के कारण हुआ है।

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री गणी जी के समाधान को हास्यास्पद बतलाते हुए लिखते हैं—"---सूत्ररचना की शोभा के लिए 'इन्द्रिय' का आदि में सन्निवेश किया है, कैसा अच्छा समाधान है! सूत्रों की रचना सुन्दरता की दृष्टि से की जाती है, यह एक नयी खोज है। 'इन्द्रिय' की जगह 'अव्रत' रखने से सूत्र कैसे असुन्दर हो जाता, यह तो गणी जी ही बतला सकते हैं।" (जै.सा.इ. /द्वि.भा. /पृ. २४२)।

उक्त सूत्र में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया, इन शब्दों के क्रमशः विन्यास का क्या प्रयोजन है, इसका संकेत **तत्त्वार्थराजवार्तिक** में उठाये गये एक प्रश्न से मिलता है। वह यह कि इन्द्रियों से ही ज्ञान करके विचार-विमर्श के बाद जीव कषाय, अव्रत और क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं,[९३] अतः अव्रत की प्रवृत्ति में इन्द्रियादि निमित्त हैं,[९४] इसलिए उनका विन्यास उपर्युक्त क्रम से किया गया है।

इस प्रकार श्री सिद्धसेनगणी भाष्यकार द्वारा किये गये सूत्रक्रमोल्लंघन का औचित्य सिद्ध करने में सफल नहीं होते। सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द का ही सन्निवेश उचित है, इसीलिए सूत्रकार ने ऐसा ही किया है। अतः भाष्य में भी उसकी ही व्याख्या पहले होनी चाहिए थी। यदि सूत्रकार ही भाष्यकार होते, तो वे अनिवार्यतः ऐसा ही करते, क्योंकि जिस औचित्य के कारण उन्होंने सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द का विन्यास किया है, उस औचित्य का निर्वाह वे भाष्य में किये बिना नहीं रहते। अतः सिद्ध होता है कि भाष्यकार कोई अन्य व्यक्ति हैं, जिन्होंने सूत्रगत शब्दक्रम की परवाह न करते हुए अपनी जुदी चिन्तन प्रणाली के वशीभूत हो शब्दक्रम का उल्लंघन कर 'अव्रत' शब्द की व्याख्या पहले की है।

---

९३. "इन्द्रियैर्हि उपलभ्य विचार्य च कषायाव्रतक्रियासु प्रवर्तन्ते प्रजाः।" तत्त्वार्थराजवार्तिक / ६ / ५ / १६ / पृ. ५११।

९४. "अव्रतस्येन्द्रियादिपरिणामाः प्रवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति।" तत्त्वार्थराजवार्तिक ६/५/१८/पृ. ५११।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

डॉ० सागरमल जी का कथन है कि भाष्य लिखते समय सूत्रकार की भूल से यह क्रमोल्लंघन हो गया है अथवा लिपिकार की भूल इसका कारण है। अतः इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है। (जै.ध.या.स./पृ. २८७)।

किन्तु इस प्रकार की भूल हुई होती, तो सिद्धसेनगणी उक्त क्रमोल्लंघन के औचित्य को अन्य प्रकार से सिद्ध करने की कोशिश न करते। वे भी इसे भाष्यकार या लिपिकार की भूल कहकर आसानी से सत्य पर परदा डाल सकते थे।

अपने कथन के समर्थन में डॉक्टर साहब ने एक यह तर्क दिया है कि कुन्दकुन्द ने आस्रव के हेतु चार बतलाये हैं : मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, जब कि उन्हीं की परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि में प्रमाद को शामिल कर पाँच कारण माने गये हैं। लेकिन इस संख्याभेद से ये लेखक भिन्न-भिन्न परम्परा के सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार सूत्र और भाष्य में क्रमोल्लंघन होने से कर्त्ताभेद सिद्ध नहीं होता। (जै.ध.या.स./पृ. २८७)।

किन्तु डॉक्टर साहब का यह तर्क उनकी ही मान्यता के विरुद्ध जाता है, क्योंकि उपर्युक्त भेद में कर्त्ताभेद तो सिद्ध है ही, अतः उक्त तर्क से सूत्र और भाष्य में कर्त्ताभेद की ही पुष्टि होती है।

उक्त क्रमोल्लंघनरूप असंगति भाष्य के स्वोपज्ञ होने की इतनी अधिक विरोधी है कि उसका परिहार करने के लिए आगे चलकर श्वेताम्बराचार्यों ने सूत्र के शब्दक्रम में भाष्य के अनुसार परिवर्तन कर दिया, अर्थात् '**इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः**' के स्थान में '**अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः**' पाठ कर दिया, जो अवैध है। (देखिए, 'सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र' ६/६ राजचन्द्र आश्रम, अगास/१९९२ ई०)।

२.६. '**इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंश---**'

'सूत्र' और 'भाष्य' में तीसरी विसंगति का संकेत करते हुए मुख्तार जी अपने ग्रन्थ '**जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश**' (पृ.१२८-१२९) में कहते हैं— "**इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्यात्मरक्ष-लोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः**" (त.सू./श्वे.४/४) इस सूत्र में प्रत्येक देवनिकाय में देवों के दश भेद बतलाये गये हैं। भाष्यकार भी पहले यही निरूपित करते हैं—'**एकैकशश्चैतेषु देवनिकायेषु देवा दशविधा भवन्ति।**' (त.भाष्य ४/४)। किन्तु जब वे भेदों का वर्णन करते हैं तब निम्नलिखित ग्यारह भेद बतलाते हैं—

"**तद्यथा इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकानि अनीकाधिपतयः प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्विषिकाश्चेति।**" (तत्त्वा. भाष्य ४/४)

करना सूत्रबन्ध के नियम के विरुद्ध है। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द का विन्यास सूत्रबन्ध की शोभा के प्रयोजन से नहीं किया, बल्कि आस्रवभेदों में प्रथमतः उल्लेख्य होने के कारण ही किया है।

३. सूत्र या वाक्य में शब्दप्रयोगजन्य शोभा की उत्पत्ति अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों के प्रयोग से होती है। किन्तु उपर्युक्त सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द के विन्यास से किसी भी शब्दालंकार की उत्पत्ति नहीं हुई, अतः शब्दिक शोभा का रंचमात्र भी आविर्भाव नहीं हुआ है। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सूत्र के आदि में **इन्द्रिय** शब्द का सन्निवेश सूत्र रचना में शोभा उत्पन्न करने के लिए नहीं, अपितु आस्रवभेदों में प्रथम स्थान रखने के कारण हुआ है।

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री गणी जी के समाधान को हास्यास्पद बतलाते हुए लिखते हैं—"---सूत्ररचना की शोभा के लिए 'इन्द्रिय' का आदि में सन्निवेश किया है, कैसा अच्छा समाधान है! सूत्रों की रचना सुन्दरता की दृष्टि से की जाती है, यह एक नयी खोज है। 'इन्द्रिय' की जगह 'अव्रत' रखने से सूत्र कैसे असुन्दर हो जाता, यह तो गणी जी ही बतला सकते हैं।" (जै.सा.इ./द्वि.भा./पृ. २४२)।

उक्त सूत्र में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया, इन शब्दों के क्रमशः विन्यास का क्या प्रयोजन है, इसका संकेत **तत्त्वार्थराजवार्तिक** में उठाये गये एक प्रश्न से मिलता है। वह यह कि इन्द्रियों से ही ज्ञान करके विचार-विमर्श के बाद जीव कषाय, अव्रत और क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं,[९३] अतः अव्रत की प्रवृत्ति में इन्द्रियादि निमित्त हैं,[९४] इसलिए उनका विन्यास उपर्युक्त क्रम से किया गया है।

इस प्रकार श्री सिद्धसेनगणी भाष्यकार द्वारा किये गये सूत्रक्रमोल्लंघन का औचित्य सिद्ध करने में सफल नहीं होते। सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द का ही सन्निवेश उचित है, इसीलिए सूत्रकार ने ऐसा ही किया है। अतः भाष्य में भी उसकी ही व्याख्या पहले होनी चाहिए थी। यदि सूत्रकार ही भाष्यकार होते, तो वे अनिवार्यतः ऐसा ही करते, क्योंकि जिस औचित्य के कारण उन्होंने सूत्र के आदि में 'इन्द्रिय' शब्द का विन्यास किया है, उस औचित्य का निर्वाह वे भाष्य में किये बिना नहीं रहते। अतः सिद्ध होता है कि भाष्यकार कोई अन्य व्यक्ति हैं, जिन्होंने सूत्रगत शब्दक्रम की परवाह न करते हुए अपनी जुदी चिन्तन प्रणाली के वशीभूत हो शब्दक्रम का उल्लंघन कर 'अव्रत' शब्द की व्याख्या पहले की है।

---

९३. "इन्द्रियैर्हि उपलभ्य विचार्य च कषायाव्रतक्रियासु प्रवर्तन्ते प्रजाः।" तत्त्वार्थराजवार्तिक / ६ / ५ / १६ / पृ. ५११।

९४. "अव्रतस्येन्द्रियादिपरिणामाः प्रवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति।" तत्त्वार्थराजवार्तिक ६/५/१८/पृ. ५११।

डॉ० सागरमल जी का कथन है कि भाष्य लिखते समय सूत्रकार की भूल से यह क्रमोल्लंघन हो गया है अथवा लिपिकार की भूल इसका कारण है। अतः इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है। (जै.ध.या.स./पृ. २८७)।

किन्तु इस प्रकार की भूल हुई होती, तो सिद्धसेनगणी उक्त क्रमोल्लंघन के औचित्य को अन्य प्रकार से सिद्ध करने की कोशिश न करते। वे भी इसे भाष्यकार या लिपिकार की भूल कहकर आसानी से सत्य पर परदा डाल सकते थे।

अपने कथन के समर्थन में डॉक्टर साहब ने एक यह तर्क दिया है कि कुन्दकुन्द ने आस्रव के हेतु चार बतलाये हैं : मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, जब कि उन्हीं की परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि में प्रमाद को शामिल कर पाँच कारण माने गये हैं। लेकिन इस संख्याभेद से ये लेखक भिन्न-भिन्न परम्परा के सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार सूत्र और भाष्य में क्रमोल्लंघन होने से कर्त्ताभेद सिद्ध नहीं होता। (जै.ध.या.स./पृ. २८७)।

किन्तु डॉक्टर साहब का यह तर्क उनकी ही मान्यता के विरुद्ध जाता है, क्योंकि उपर्युक्त भेद में कर्त्ताभेद तो सिद्ध है ही, अतः उक्त तर्क से सूत्र और भाष्य में कर्त्ताभेद की ही पुष्टि होती है।

उक्त क्रमोल्लंघनरूप असंगति भाष्य के स्वोपज्ञ होने की इतनी अधिक विरोधी है कि उसका परिहार करने के लिए आगे चलकर श्वेताम्बराचार्यों ने सूत्र के शब्दक्रम में भाष्य के अनुसार परिवर्तन कर दिया, अर्थात् '**इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः**' के स्थान में '**अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः**' पाठ कर दिया, जो अवैध है। (देखिए, 'सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र' ६/६ राजचन्द्र आश्रम, अगास/१९९२ ई०)।

२.६. '**इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंश---**'

'सूत्र' और 'भाष्य' में तीसरी विसंगति का संकेत करते हुए मुख्तार जी अपने ग्रन्थ '**जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश**' (पृ. १२८-१२९) में कहते हैं— "**इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्यात्मरक्ष-लोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः**" (त.सू./श्वे.४/४) इस सूत्र में प्रत्येक देवनिकाय में देवों के दश भेद बतलाये गये हैं। भाष्यकार भी पहले यही निरूपित करते हैं—'**एकैकशश्चैतेषु देवनिकायेषु देवा दशविधा भवन्ति।**' (त.भाष्य ४/४)। किन्तु जब वे भेदों का वर्णन करते हैं तब निम्नलिखित ग्यारह भेद बतलाते हैं—

"**तद्यथा इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकानि अनीकाधिपतयः प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्विषिकाश्चेति।**" (तत्त्वा. भाष्य ४/४)

इसमें **अनीकाधिपतयः** भेद अधिक है जो सूत्रसम्मत नहीं है। इसीलिए सिद्धसेन गणी लिखते हैं—"**सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणा नानीकाधिपतयः भाष्ये पुनरुपन्यस्ताः।**" (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति / ४ / ४ / पृ. २७६)।

अर्थात् सूत्र में तो आचार्य ने अनीकों का ही ग्रहण किया है, **अनीकाधिपतियों** का नहीं, किन्तु भाष्य में किया है।

इस पर टिप्पणी करते हुए मुख्तार जी कहते हैं—"इससे सूत्र और भाष्य में जो विरोध आता है, उससे इनकार नहीं किया जा सकता। सिद्धसेनगणी ने इस विरोध का कुछ परिमार्जन करने के लिए जो यह कल्पना की है कि 'भाष्यकार ने अनीकों और अनीकाधिपतियों के एकत्व का विचार करके ऐसा भाष्य कर दिया जाना पड़ता है' (त./भाष्यवृत्ति ४/४), वह ठीक मालूम नहीं होती, क्योंकि अनीकों और अनीकाधिपतियों की एकता का वैसा विचार यदि भाष्यकार के ध्यान में होता, तो वह अनीकों और अनीकाधिपतियों के लिए अलग-अलग पदों का प्रयोग करके संख्याभेद उत्पन्न न करता। भाष्य में तो दोनों का स्वरूप भी फिर अलग-अलग दिया गया है, जो दोनों की भिन्नता का द्योतन करता है। यों तो देव और देवाधिपति (इन्द्र) यदि एक हों, तो फिर 'इन्द्र' का अलग भेद करना भी व्यर्थ ठहरता है, परन्तु दश भेदों में इन्द्र की अलग गणना की गई है, इससे उक्त कल्पना ठीक मालूम नहीं होती। सिद्धसेन भी अपनी इस कल्पना पर दृढ़ मालूम नहीं होते, इसी से उन्होंने आगे चलकर लिख दिया है—'**अन्यथा वा दशसंख्या भिद्येत**' (पृ. २७६) = अथवा यदि ऐसा नहीं है, तो दश की संख्या का विरोध आता है।" (जै.सा.इ.वि.प्र./पृ.१२८-१२९)।

सूत्र और **भाष्य** में इस विरोध से सिद्ध होता है कि उनकी रचना एक ही व्यक्ति के द्वारा नहीं की गई है।

२.७. आक्षेप का निराकरण

डॉ० सागरमल जी यहाँ कोई विरोध या असंगति नहीं मानते। वे लिखते हैं—"कोई भी व्याख्याकार व्याख्या में किसी भेद के उपभेद की चर्चा तो कर ही सकता है। पुनः क्या इस प्रकार भेद और उपभेदों की चर्चा दिगम्बर व्याख्याकारों ने नहीं की है? जब वे निक्षेप की चर्चा करते हैं, तो क्या स्थापना के साकार-स्थापना और निराकार-स्थापना ऐसे दो भेद नहीं करते हैं? और कोई आग्रहपूर्वक यह कहे कि साकार और अनाकार ऐसी दो स्थापना होने से व्याख्या में निक्षेप के पाँच भेद किये गये हैं, अतः व्याख्या और मूल में असंगति है? ऐसे तो एक-दो नहीं, सैकड़ों असंगतियाँ किसी भी मूलग्रन्थ और उसके भाष्य या टीका में दिखाई जा सकती हैं।" (जै.ध.या.स./पृ. २८९)।

डॉक्टर साहब का यह कथन बिलकुल सत्य है कि कोई भी व्याख्याकार व्याख्या में किसी उपभेद की चर्चा तो कर ही सकता है, किन्तु उपभेद की चर्चा तभी करता है, जब भेद की चर्चा कर लेता है और उपभेद की चर्चा के लिए प्रस्तुत होता है। कोई भी व्याख्याकार भेद के स्थान में उपभेद का वर्णन नहीं करता, क्योंकि इससे उपभेद को भेद समझ लेने का भ्रम हो सकता है। उक्त सूत्र के भाष्य में भाष्यकार भेदकथन के लिए ही प्रस्तुत होते हैं, उपभेदकथन के लिए नहीं। यह उनके निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

"**एकैकशश्चैतेषु देवनिकायेषु देवा दशविधा भवन्ति। तद्यथा इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकानि अनीकाधिपतयः प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्विषिकाश्चेति।**" (तत्त्वा.भाष्य ४/४)।

अनुवाद—"पूर्वोक्त देवनिकायों में से प्रत्येक देवनिकाय में देवों के दश भेद होते हैं, जैसे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, अनीकाधिपति, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक।

यहाँ '**देवा दशविधा भवन्ति**' कहने के बाद **तद्यथा** (जैसे) कहने से स्पष्ट है कि भाष्यकार आगे दशभेदों के ही नाम बतला रहे हैं, किसी उपभेद का नाम नहीं। अतः यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि यहाँ उन्होंने किसी उपभेद का वर्णन किया है। उन्होंने भेदों का ही वर्णन किया है, किन्तु देवों के दश नाम बतलाने की जगह ग्यारह नाम बतला दिये हैं, यह न केवल सूत्र और भाष्य में विरोध का उदाहरण है, अपितु इससे भाष्य के भीतर ही गंभीर अन्तर्विरोध सूचित होता है। भाष्यकार प्रतिज्ञा दश भेद बतलाने की कर रहे हैं और बतलाते हैं ग्यारह भेद। यह अन्तर्विरोध इस बात का सूचक है कि इस विषय में सूत्रकार और भाष्यकार में मतभेद है। किन्तु भाष्यकार सूत्रकार के मत का स्पष्ट शब्दों में खण्डन करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं, इसलिए उन्होंने सूत्र का अनुसरण करते हुए कहा तो यही है कि दस भेद होते हैं, किन्तु नामों का वर्णन करते समय ग्यारह नाम बतलाकर अपना मत भी स्पष्ट कर दिया है।

दिगम्बर व्याख्याकारों ने स्थापनानिक्षेप के साकार-स्थापना और निराकार-स्थापना ऐसे दो उपभेद अवश्य बतलाये हैं, किन्तु निक्षेप के भेद बतलाते समय नहीं, अपितु स्थापना-निक्षेप के उपभेद बतलाते समय ऐसा किया है। जैसे '**सद्भावेतरभेदेन द्विधा**' (तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक २/१/५, श्लोक ५४) अर्थात् वह स्थापना सद्भावस्थापना और असद्भाव-स्थापना के भेद से दो प्रकार की है। इसी प्रकार यदि भाष्य में देवों के दशभेद बतलाते समय दशभेद ही बतलाये जाते और उसके बाद अनीक के उपभेदों

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के वर्णन का प्रस्ताव करके उसके अनीक और अनीकाधिपति ये दो उपभेद बतलाये जाते, तब कोई विरोध या असंगति नहीं होती। किन्तु ऐसा नहीं किया गया है। भेदों के अन्तर्गत ही अनीकाधिपति की गणना की गयी है, इससे सिद्ध है कि भाष्यकार को देवों के ग्यारह भेद ही मान्य हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि भाष्यकार का सूत्रकार के साथ मतभेद है।

२.८. '**सारस्वत्यादित्य---**'

मुख्तार जी द्वारा **जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश** के पृष्ठक्रमांक १२९-१३० पर 'सूत्र' और 'भाष्य' में बतलायी गयी चौथी विसंगति इस प्रकार है— श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र के "**सारस्वत्यादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च**"[९५] इस सूत्र (४/२६) में लौकान्तिक देवों के सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट, ये नौ भेद बतलाये गये हैं, किन्तु भाष्यकार ने '**ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः**' (४/२५/पृ.२३२) इस पूर्वसूत्र के तथा इस सूत्र के भाष्य में लोकान्तिक देवों की संख्या आठ ही बतलायी है।[९६]

इस विसंगति पर टिप्पणी करते हुए मुख्तार जी लिखते हैं—"इस विषय में सिद्धसेनगणी तो यह कहकर छुट्टी पा गये हैं कि लोकान्त में रहनेवालों के ये आठ भेद, जो भाष्यकार सूरि ने अंगीकार किये हैं, वे रिष्टविमान के प्रस्तार में रहनेवालों की अपेक्षा नौ भेद रूप हो जाते हैं, आगम में भी नौ भेद कहे हैं, इससे कोई दोष नहीं,[९७] परन्तु मूल सूत्र में जब स्वयं सूत्रकार ने नौ भेदों का उल्लेख किया तब अपने ही भाष्य में उन्होंने नौ भेदों का उल्लेख न कर आठ भेदों का ही उल्लेख क्यों किया, इसकी वे कोई माकूल (युक्तियुक्त) वजह नहीं बतला सके। इसी से शायद पं० सुखलाल जी को उस प्रकार से कहकर छुट्टी पा लेना उचित नही जँचा, और इसलिए उन्होंने भाष्य की स्वोपज्ञता में बाधा न पड़ने देने के ख्याल से यह कह दिया है कि "**यहाँ मूल सूत्र में 'मरुतो' पाठ पीछे से प्रक्षिप्त हुआ है।**" परन्तु इसके लिए वे कोई प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके। जब प्राचीन से प्राचीन श्वेताम्बरीय टीका में **मरुतो** पाठ स्वीकृत किया गया है, तब उसे यों ही दिगम्बरपाठ की बात को लेकर प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।" (जै.सा.इ.वि.प्र./पृ. १३०)।

---

९५. "सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च।" तत्त्वार्थसूत्र (दिगम्बर) ४/२५।

९६. "ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टासु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य ४/२५। "एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा---।" वही ४/२६

९७. "लोकान्तवर्तिनः एतेऽष्टभेदाः सूरिणोपात्ताः, रिष्ठविमानप्रस्तारवर्तिभिर्नवधा भवन्तीत्यदोषः। आगमे तु नवधैवाधीता इति।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ४/२६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

डॉ० सागरमल जी ने भी **मरुतो** पाठ को **प्रक्षिप्त** मानकर सूत्र और भाष्य में उक्त मतभेद अस्वीकार करने की चेष्टा की है,[९८] किन्तु वे भी किसी प्रमाण से इसकी पुष्टि करने में असमर्थ रहे हैं। अतः सूत्र और भाष्य में लौकान्तिक देवों की संख्या के विषय में जो यह मतभेद है, उससे सिद्ध होता है कि दोनों के कर्त्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ में लौकान्तिक देव आठ ही माने गये हैं और भाष्यकार को भी आठ ही मान्य हैं। इससे साबित होता है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ ही मूलपाठ है।

मुख्तार जी ने सूत्र और भाष्य में अन्तर्विरोध दर्शानेवाले उपर्युक्त चार उदाहरण दिये हैं। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'सर्वार्थसिद्धि' की प्रस्तावना में कुछ अन्य उदाहरण भी दिये हैं, जो नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

२.९. सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दर्शनी

"**तत्त्वार्थसूत्र** में सम्यग्दर्शनी से सम्यग्दृष्टि को भिन्न नहीं माना गया है। वहाँ ('**शङ्काकांक्षाविचिकित्सा**'[९९] इत्यादि सूत्र) में ऐसे सम्यग्दर्शनवाले को भी सम्यग्दृष्टि कहा गया है, जिसके शंका आदि दोष संभव होते हैं। किन्तु इसके विपरीत **तत्त्वार्थभाष्य** में सम्यग्दर्शनी और सम्यग्दृष्टि इन दोनों पदों की स्वतन्त्र व्याख्या करके सम्यग्दर्शनी से सम्यग्दृष्टि को भिन्न बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि जिसके **आभिनिबोधिक** ज्ञान होता है वह सम्यग्दर्शनी कहलाता है और जिसके **केवलज्ञान** होता है, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है।[१००] स्पष्ट है कि यहाँ पर तत्त्वार्थभाष्यकार तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण नहीं करते और सम्यग्दृष्टि पद की तत्त्वार्थसूत्र के विरुद्ध अपनी दो व्याख्यायें प्रस्तुत करते हैं। एक स्थल (अध्याय १/सूत्र ८) में वे जिस बात को स्वीकार करते हैं, दूसरे (अध्याय ७/सूत्र २३) में वे उसे छोड़ देते हैं।"(स.सि./प्रस्ता./पृ.६७)।

२.१०. '**मतिः स्मृतिः**---'

"तत्त्वार्थसूत्र में मति, स्मृति और संज्ञा आदि मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं।[१०१] किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें पर्यायवाची नाम न मानकर '**मतिः स्मृतिः**' इत्यादि सूत्र

---

९८. जै.ध.या.स. / पृ. २९१-२९२।

९९. तत्त्वार्थसूत्र (दिगम्बर) ७/२३, (श्वेताम्बर) ७/१८।

१००. "अत्राह—सम्यग्दृष्टिसम्यग्दर्शनयोः कः प्रतिविशेष इति? उच्यते। अपायसद्द्रव्यतया सम्यग्दर्शनमयाय आभिनिबोधिकम्। तद्योगात्सम्यग्दर्शनम्। तत्केवलिनो नास्ति। तस्मान्न केवली सम्यग्दर्शनी, सम्यग्दृष्टिस्तु।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १/८/पृ. ३१।

१०१. "मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।" तत्त्वार्थसूत्र १/१३।

के आधार से मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि को स्वतन्त्र ज्ञान मानते हैं।[१०२] सिद्धसेनगणी ने भी तत्त्वार्थभाष्य के आधार से इनको स्वतन्त्र ज्ञान मानकर उनकी व्याख्या की है। यह कहना कि सामान्य-मतिज्ञान व्यापक है और विशेष मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि उसके व्याप्य हैं, कुछ सयुक्तिक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मतिज्ञान वर्तमान अर्थ को विषय करता है। इस तथ्य को जब स्वयं तत्त्वार्थभाष्यकार स्वीकार करते हैं, तब मति, स्मृति आदि नाम मतिज्ञान के पर्यायवाची ही हो सकते हैं, भिन्न-भिन्न ज्ञान नहीं। तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में इन्हें मतिज्ञान का पर्यायवाची ही कहा है। स्पष्ट है कि यहाँ पर भी तत्त्वार्थभाष्यकार की व्याख्या मूल सूत्र का अनुसरण नहीं करती।'' (स.सि. / प्रस्ता. / पृ. ६७-६८)।

२.११. शब्दादि नय

''तत्त्वार्थभाष्यकार ने दसवें अध्याय के '**क्षेत्रकालगति**' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ('**शब्दादयश्च त्रयः**'), इन तीन को मूलनय मान लिया है, जब कि वे ही प्रथम अध्याय में उस सूत्रपाठ को स्वीकार करते हैं, जिसमें मूलनयों में केवल एक शब्दनय स्वीकार किया गया है।'' (स.सि./ प्रस्ता. / पृ. ६८)। यह परस्परविरुद्ध है तथा सूत्रकार के मत से भी भिन्नता प्रदर्शित करता है।

२.१२. चरमदेहोत्तम पुरुष

''**औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः**'' (त.सू. /२/५३) इस दिगम्बरमान्य सूत्रपाठ में **चरमोत्तमदेह** पद है। श्वेताम्बरमान्य सूत्रपाठ में इसके स्थान पर **चरमदेहोत्तमपुरुष** पाठ मिलता है। पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—''तत्त्वार्थ-भाष्यकार ने प्रारम्भ में इस पद को मानकर ही उसकी व्याख्या की है। किन्तु बाद में वे **उत्तमपुरुष** पद का त्याग कर देते हैं और मात्र **चरमदेह** पद को स्वीकार कर उसका उपसंहार करते हैं। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थभाष्यकार को इस सूत्र के कुछ हेरफेर के साथ दो पाठ मिले होंगे, जिनमें से एक पाठ को उन्होंने मुख्य मानकर उसका प्रथम व्याख्यान किया। किन्तु उसको स्वीकार करने पर जो आपत्ति आती है, उसे देखकर उपसंहार के समय उन्होंने दूसरे पाठ को स्वीकार कर लिया। स्पष्ट है कि इससे तत्त्वार्थभाष्यकार ही तत्त्वार्थसूत्रकार हैं, इस मान्यता को बड़ा धक्का लगता है।'' (स.सि. / प्रस्ता. / पृ. ६८)।

---

१०२. ''मतिज्ञानं स्मृतिज्ञानं संज्ञाज्ञानं चिन्ताज्ञानम् आभिनिबोधिकज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।'' तत्त्वार्थाधिगमभाष्य / १/१३।

ये चार अन्तर्विरोध सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने निर्दिष्ट किये हैं। सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने सूत्र और भाष्य में निम्नलिखित विसंगतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—

२.१३. **प्राणापान**

"**शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्**" (त.सू.५/१९) इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है—'**प्राणापानौ च नामकर्मणि व्याख्यातौ,**' अर्थात् नामकर्म के प्रकरण में प्राण और अपान का व्याख्यान किया जा चुका है। किन्तु नामकर्म का प्रकरण आठवें अध्याय में हैं। अतः **व्याख्यातौ** यह भूतकालीन क्रिया असंगत है। **व्याख्यास्येते** होना चाहिए था। सिद्धसेन गणी ने भी इस असंगति की चर्चा की है, किन्तु उन्होंने इसका यह समाधान किया है कि भविष्यत् काल के द्योतन के लिए भूतकालिक और वर्तमानकालिक प्रत्ययों का भी प्रयोग होता है।[१०३] किन्तु भाष्यकार ने इस तरह के प्रयोग अन्यत्र नहीं किये हैं, इसलिए सिद्धसेन गणी का समाधान समाधानकारक नहीं है। अतः यही सिद्ध होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों की रचना नहीं की है, इसीलिए सूत्र और भाष्य में यह असंगति है। (कैलाशचन्द्र शास्त्री/जै.सा.इ./भा.२/२४१-४२)।

२.१४. **घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः**

"**रत्नशर्कराबालुका**" (त.सू./श्वे./३/१) इत्यादि सूत्र में आये **घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः** पद का अर्थ करते हुए भाष्यकार ने लिखा है "**अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते तेनायमर्थः प्रतीयते**---।" (स्वोपज्ञभाष्य/तत्त्वार्थाधिगमसूत्र/भाग १/जी.च.साकरचंद जवेरी, मुंबई/अध्याय ३/सूत्र १/पृ.२३०)।

अर्थात् **अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः** ऐसा सिद्ध होने पर जो घन शब्द का ग्रहण किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है---।' यहाँ **प्रतीयते** शब्द निश्चयात्मक नहीं है, सन्देहात्मक है।---यदि भाष्यकार ही सूत्रकार होते, तो अपने ही द्वारा प्रयुक्त 'घन' शब्द के अर्थ के विषय में उनके मन में अनिश्चयात्मकता न रहती। इसलिए वे **प्रतीयते** क्रिया का प्रयोग न कर **ज्ञाप्यते** जैसी क्रिया का प्रयोग करते। **सिद्धसेनगणी** ने अपनी टीका में 'प्रतीयते' क्रिया को उड़ा ही दिया है और भाष्य का अर्थ करते हुए **ज्ञाप्यते** क्रिया का प्रयोग किया है, जो निश्चयात्मक है। (कैलाशचन्द्र शास्त्री/जै.सा.इ./भा.२/पृ.२४२-४३)।

१०३."प्राणापानपर्याप्तिरित्यत्र भाष्ये व्याख्यास्येते, कथं तर्हि व्याख्यातौ? आशंसायामर्थे भूतवद् वर्तमानवच्च प्रत्यया भवन्ति, उपाध्यायश्चेद् आगमिष्यति तद्व्याकरणमधीतमेवमिहापि नामकर्माशंसितमित्यदोषः।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ५/१९/पृ. ३४२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२.१५. '**औदारिकवैक्रिय---**'

द्वितीय अध्याय के "**औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि**" (त.सू./श्वे./२/३७) इस सूत्र में औदारिक आदि पाँच शरीरों के नाम गिनाये गये हैं। इसके भाष्य में भी पाँच शरीरों के केवल नाम ही बतलाये गये हैं, उनकी व्याख्या नहीं की गई है। व्याख्या इसी अध्याय के "**शुभं विशुद्धमव्याघति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव**" (त.सू./श्वे./२/४९) इस सूत्र के भाष्य में की गई है, जो अप्रासंगिक है।

"**सिद्धसेनगणी** ने भी इसे अप्रासंगिक मानते हुए शंका उठाई है—"यह भाष्य तो शरीरप्रकरणसम्बन्धी पूर्वसूत्र (२/३७) में युक्त होता। प्रकरण के अन्त में उसके कहने का किञ्चित् भी विशिष्ट प्रयोजन नहीं है।" इस शङ्का को उचित मानते हुए वे कहते हैं—"निश्चित ही प्रकरण के अन्त में इसके कहे जाने का कोई फल नहीं है, क्योंकि यह प्रस्तुत सूत्र का अर्थ नहीं है, अतः आचार्य की इस भूल को क्षमा करें।"[१०४] (कैलाशचन्द्र शास्त्री/जै.सा.इ./भा.२/२४४)।

जो विषय जिस सूत्र से सम्बद्ध है, उसकी व्याख्या उसी सूत्र के भाष्य में न कर अन्य सूत्र के भाष्य में करना एक ऐसी महान् विसंगति है, जिसकी अपेक्षा उस भाष्यकार से नहीं की जा सकती, जिसने सूत्ररचना भी स्वयं की हो। अतः स्पष्ट है कि भाष्य किसी ऐसे अन्य व्यक्ति की कृति है, जो सूत्रकार के समान सिद्धहस्त, औचित्यदर्शी, स्मृतिशील और सावधान नहीं है। कुछ विसंगतियाँ प्रस्तुत ग्रन्थलेखक की दृष्टि में भी आयी हैं, जिनका निरूपण आगे किया जा रहा है—

२.१६. **महाव्रत संवर के हेतु**

"**कायवाङ्मनःकर्म योगः**" (६/१) तथा "**हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्**" (७/१) 'तत्त्वार्थसूत्र' के इन सूत्रों में महाव्रतों को शुभास्रव का हेतु बतलाया गया है। भाष्य में भी इस बात की पुष्टि की गई है।[१०५] तथा संवर हेतुओं का वर्णन करने वाले "**स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः**" (९/२) सूत्र में महाव्रतों को शामिल न करके भी यह द्योतित किया गया है कि महाव्रत शुभास्रव के हेतु हैं,

---

१०४."ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतद् भाष्यं युक्तं स्यात्। इह तु प्रकरणान्ताभिधाने न किञ्चित् प्रयोजनं वैशेषिकमस्तीति। उच्चते-तदेवमयं मन्यते, तदेवेदमादिसूत्रमाप्रकरणपरिसमाप्तेः प्रपञ्च्यते, **अथवा प्रकरणान्ताभिधाने सत्यमेव न किञ्चित् फलमस्त्यसूत्रार्थत्वाद् अतः** क्षम्यतामिदमेकमाचार्यस्येति।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति २/४९/पृ. २११।

१०५.क—"तत्राशुभो हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि कायिकः, सावद्यानृतपरुषपिशुनादीनि वाचिकः, अभिध्याव्यापादेर्ष्यासूयादीनि मानसः। अतो विपरीतः शुभ इति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य ६/१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

संवर के नहीं। किन्तु भाष्यकार ने "**अनित्याशरणसंसारैकत्वा**" इत्यादि सूत्र के भाष्य में महाव्रतों को संवर का हेतु बतलाया है।[१०६] इससे भी सूत्र और भाष्य में अन्तर्विरोध की पुष्टि होती है, जिससे इस मान्यता को बल मिलता है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। यद्यपि दशधर्म-प्रतिपादक सूत्र में 'संयम' धर्म के अन्तर्गत महाव्रतों को संवर का हेतु स्वीकार किया गया है, तथापि महाव्रतों को गुप्ति, समिति आदि के साथ जोड़कर संवरहेतुओं में परिगणित नहीं किया गया है, जैसा कि भाष्यकार ने किया है।

२.१७. '**कालश्चेत्येके**'

तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ में सूत्रकार ने कहा है—"**कालश्चेत्येके**" (५/३८), अर्थात् कुछ आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं। इससे ध्वनित होता है कि सूत्रकार स्वयं काल को द्रव्य नहीं मानते। यदि उन्हें भी काल का द्रव्य होना स्वीकार होता, तो 'कालश्चेत्येके' न कहकर '**कालश्च**' कहते। श्वेताम्बर-आगमों में जो जीव तथा अजीव की पर्याय को 'काल' कहा गया है, उसे भी सूत्रकार नहीं मानते,[१०७] क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में उन्होंने कहीं भी उसे काल नहीं बतलाया। किन्तु भाष्यकार काल को द्रव्य मानते भी हैं और नहीं भी। "**अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः**" (५/१) इस सूत्र के भाष्य में कहा है कि यहाँ **काय** शब्द का ग्रहण प्रदेशावयवों की बहुलता दर्शाने तथा **अद्धासमय** (काल) की कायात्मकता का निषेध करने के लिए किया गया है।[१०८] इस कथन से स्पष्ट होता है कि भाष्यकार को कालद्रव्य का केवल प्रदेशबहुत्व अमान्य है, अस्तित्व अमान्य नहीं है। उन्होंने "**आद्य शब्दौ द्वित्रिभेदौ**" (त.सू./श्वे./१/३५) सूत्र के भाष्य में लोक को **षड्द्रव्यात्मक** कहा है,[१०९] किन्तु अन्यत्र लोक को **पञ्चास्तिकायों का समुदाय** बतलाया है[११०] तथा "**नित्यावस्थितान्यरूपाणि च**" (त.सू./श्वे.५/३) सूत्र की टीका में वे कहते हैं कि

ख— "अत्राह—उक्तं भवता सद्वेद्यस्यास्रवेषु 'भूतव्रत्यनुकम्पेति।' तत्र किं व्रतं को वा व्रतीति? अत्रोच्यते।" (वही/उत्थानिका ७/१)

१०६. "संवरांश्च महाव्रतादिगुप्त्यादिपरिपालनाद् गुणतश्चिन्तयेत्।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य ९/७/पृ. ४०२।

१०७. "किमिदं भंते! कालोत्ति पवुच्चति? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव" इदं हि सूत्रमस्तिकाय-पञ्चकाव्यतिरिक्त-कालप्रतिपादनाय तीर्थकृतोपादेशि, जीवाजीवद्रव्यपर्यायः काल इति सूत्रार्थः---स च वर्तनादिरूपो द्रव्यस्यैव पर्यायः।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ५/३८/पृ. ४३२।

१०८. "कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य ५/१/पृ.२४५।

१०९. "सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधादिति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/३५/पृ. ६५।

११०. "पञ्चास्तिकायसमुदायो लोकः।" वही/३/६/पृ.१५९।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

द्रव्य कभी भी पाँच की संख्या का उल्लंघन नहीं करते।[१११] इन परस्पर-विरोधी वचनों से स्पष्ट है कि भाष्यकार काल को द्रव्य मानते भी हैं और नहीं भी। सूत्रकार और भाष्यकार के इस मतवैषम्य से सिद्ध है कि वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

इसके अतिरिक्त भाष्यकार ने 'काल' के लिए श्वेताम्बर-आगमों में प्रयुक्त **अद्धासमय** शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु सूत्र में इसका प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया है। इससे भी सूत्रकार और भाष्यकार की भिन्नता सिद्ध होती है।

२.१८. 'बादरसाम्पराये सर्वे'

तत्त्वार्थसूत्रकार ने "**सूक्ष्मसाम्परायवीतरागछद्मस्थयोश्चतुर्दश**" (९/१०) सूत्र में दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों के परीषहों का वर्णन किया है, "**एकादश जिने**" (९/११) सूत्र में तेरहवें गुणस्थान के परीषह निर्दिष्ट किये गये हैं और "**बादरसाम्पराये सर्वे**" (९/१२) सूत्र का कथन कर छठे, सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानों के परीषहों का ज्ञापन किया है।

किन्तु भाष्यकार ने "**बादरसम्पराये सर्वे**" सूत्र को केवल नौवें गुणस्थान में होनेवाले परीषहों का प्रतिपादक माना है।[११२] यदि ऐसा माना जाय तो छठे से लेकर आठवें गुणस्थान तक के परीषहों का वर्णन करनेवाला कोई सूत्र पृथक् से निर्दिष्ट न होने के कारण तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में अपूर्णता के दोष का प्रसंग आता है अथवा 'सूत्रकार उक्त गुणस्थानों में कोई भी परीषह नहीं मानते' इस आगमविरुद्ध मान्यता के दोषी सिद्ध होते हैं।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार जैसे महान् आगमविद् में इन दोषों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इससे यही सिद्ध होता है कि भाष्यकार ने ही **बादरसाम्पराय** शब्द से केवल नौवाँ गुणस्थान अर्थ ग्रहण करने की त्रुटि की है। यह सूत्रकार और भाष्यकार के प्रतिपादनों में विसंगतियों एवं उनके भिन्न व्यक्ति होने का चौदहवाँ प्रमाण है।

सूत्र और भाष्य में ये बहुमुखी विसंगतियाँ इस बात की गवाह हैं कि सूत्र और भाष्य की रचना एक ही व्यक्ति द्वारा नहीं की गई है, अपितु वे अलग-अलग व्यक्तियों की कृतियाँ हैं।

---

१११. "एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति।--- न हि कदाचित् पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।" वही / ५/३/ पृ. २४७।

११२. देखिए, इसी प्रकरण का शीर्षक १.४. 'सूत्र में स्त्रीमुक्तिनिषेध।'

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

३

सूत्र-भाष्य-एककर्तृत्वविरोधी अन्य हेतु

३.१. कर्मणो योग्यान्

''सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः'' (त.सू./८/२) इस सूत्र में **कर्मयोग्यान्** इस अल्पाक्षरात्मक समस्त पद का प्रयोग न कर **कर्मणो योग्यान्** इस बह्वक्षरात्मक असमस्त पद का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका समाधान सर्वार्थसिद्धिकार ने किया है। वह यह कि **कर्मणः** पद का प्रयोग करने से वह पञ्चमी और षष्ठी दोनों विभक्तिवाले पद के रूप में अलग-अलग दो वाक्यों में अन्वित हो सकता है। जैसे '**कर्मणः सकषायत्वाज्जीवः**' अर्थात् कर्मोदय के निमित्त से सकषाय होकर जीव '**कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते**' = कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। (स.सि./८/२)।

यह समाधान भाष्यकार ने नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रों की रचना उन्होंने नहीं की। यदि सूत्र रचना उन्होंने की होती, तो **कर्मणो योग्यान्** प्रयोग का रहस्य उन्हें ज्ञात होता और उसका स्पष्टीकरण वे भाष्य में अवश्य करते।

३.२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की सटिप्पण प्रति

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने लिखा है—''तत्त्वार्थसूत्र पर श्वेताम्बरों का एक पुराना टिप्पण है, जिसका परिचय '**अनेकान्त**' के **वीरशासनाङ्क** (वर्ष ३/किरण १/ पृ. १२१-१२८) में प्रकाशित हो चुका है। इस टिप्पण के कर्त्ता **रत्नसिंह सूरि** बहुत ही कट्टर साम्प्रदायिक थे और उनके सामने भाष्य ही नहीं, किन्तु सिद्धसेन की भाष्यानुसारिणी टीका भी थी, जिन दोनों का टिप्पण में उपयोग किया गया है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी उन्होंने भाष्य को स्वोपज्ञ नहीं बतलाया। टिप्पण के अन्त में **दुर्वादापहार** रूप से जो सात पद्य दिये हैं, उनमें से प्रथम पद्य और उसके टिप्पण में साम्प्रदायिक कट्टरता का कुछ प्रदर्शन करते हुए उन्होंने भाष्यकार का जिन शब्दों में स्मरण किया है, वे निम्न प्रकार हैं—

प्रागेवैतददक्षिणभषणगणादास्यमानमिति मत्वा।
त्रातं समूलचूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात्॥

टिप्पण—''दक्षिणे सरलोदारावितिहेमः।'' अदक्षिणा असरलाः स्ववचनस्यैव पक्षपात-मलिना इति यावत्त एव भषणाः कुर्कुरास्तेषां गणैरादास्यमानं ग्रहीष्यमानं स्वायत्तीकरिष्यमानमिति यावत्तथाभूतमिदंतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः। सहमूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद् भाष्यकारो

भाष्यकर्त्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माकं लेखकानां निर्मलग्रन्थरक्षकाय प्राग्वचनचौरिकायामशक्यायेति।''

इन शब्दों का भावार्थ यह है कि—''जिसने इस तत्त्वार्थशास्त्र को अपने ही वचन के पक्षपात से मलिन अनुदार कुत्तों के समूहों द्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर, यह देखकर कि ऐसी कुत्ता-प्रकृति के विद्वान् लोग इसे अपना अथवा अपने सम्प्रदाय का बनाने वाले हैं—पहले ही इस शास्त्र की मूलचूल-सहित रक्षा की है—इसे ज्यों का त्यों श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के उमास्वाति की कृतिरूप में ही कायम रक्खा है, वह (अज्ञातनामा) भाष्यकार चिरंजीव होवे, चिरकाल तक जय को प्राप्त होवे, ऐसा हम टिप्पणकार जैसे लेखकों का उस निर्मल ग्रन्थ के रक्षक तथा प्राचीन वचनों की चोरी में असमर्थ के प्रति आशीर्वाद है।''[११२.१]

''यहाँ (टिप्पणकार ने) भाष्यकार का नाम न देकर उसके लिए **स कश्चित्** (**वह कोई**) शब्दों का प्रयोग किया है, जबकि मूल सूत्रकार का नाम **उमास्वाति** कई स्थानों पर स्पष्टरूप से दिया है। **इससे साफ ध्वनित होता है कि टिप्पणकार को भाष्यकार का नाम मालूम नहीं था और वह उसे मूल सूत्रकार से भिन्न समझता था।** भाष्यकार का **निर्मलग्रन्थरक्षकाय** विशेषण के साथ **प्राग्वचनचौरिकायामशक्याय** विशेषण भी इसी बात को सूचित करता है। इसके **प्राग्वचन** का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र जान पड़ता है, जिसे प्रथम विशेषण में **निर्मलग्रन्थ** कहा गया है। भाष्यकार ने उसे चुराकर अपना नहीं बनाया, वह अपनी मनःपरिणति के कारण ऐसा करने के लिए असमर्थ था, यही आशय यहाँ व्यक्त किया गया है। अन्यथा, उमास्वाति के लिए इस विशेषण की कोई जरूरत नहीं थी, यह उनके लिए किसी तरह भी ठीक नहीं बैठता, साथ ही 'अपने ही वचन के पक्षपात से मलिन अनुदार कुत्तों के समूह द्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर' ऐसा जो कहा गया है, उससे यह भी ध्वनित होता है कि भाष्य की रचना उस समय हुई है, जब कि तत्त्वार्थसूत्र पर 'सवार्थसिद्धि' आदि कुछ प्राचीन दिगम्बर-टीकाएँ बन चुकी थीं और उनके द्वारा दिगम्बर समाज में तत्त्वार्थसूत्र का अच्छा प्रचार प्रारम्भ हो गया था। इस प्रचार को देखकर ही किसी श्वेताम्बर विद्वान् को भाष्य के रचने की प्रेरणा मिली है और उसके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर बनाने

११२.१. मुख्तार जी कृत भावार्थ का सारांश इस प्रकार है—'जो कोई इस भाष्य का कर्त्ता है, उसने पहले से ही जान लिया था कि स्वभाव से कुटिल और पक्षपात से मलिन कुत्ते (दिगम्बर) इस तत्त्वार्थशास्त्र पर कब्जा कर लेंगे, इसलिए उसने भाष्य की रचना कर इसकी समूलचूल रक्षा की है। वह निर्मलग्रन्थ का रक्षक और प्राचीन वचनों की चोरी में असमर्थ भाष्यकार चिरजीवी हो, विजयी हो, यह हम लेखकों का उस के लिए आशीर्वाद है।'

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

की चेष्टा की गयी है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी हालत में भाष्य को स्वयं मूलसूत्रकार उमास्वाति की कृति बतलाना और भी असंगत जान पड़ता है।'' (जै.सा.इ.वि.प्र./पृ. १३१-१३२)।

श्वेताम्बराचार्य रत्नसिंह सूरि के इन वचनों से भी संकेत मिलता है कि भाष्यकार सूत्रकार से भिन्न व्यक्ति थे।

३.३. सटिप्पण प्रति में कुछ अधिक सूत्र

श्वेताम्बराचार्य रत्नसिंहसूरि-कृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की सटिप्पण प्रति में तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की अपेक्षा कुछ अधिक सूत्र हैं, जो इस प्रकार हैं—

तैजसमपि (२/५०), **घर्मावंशाशैलाञ्जनारिष्टा माघव्या माघवीति च** (३/२), **उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः** (४/२३) **स द्विविधः** (५/४२), **सम्यक्त्वं च** (६/२१), **धर्मास्तिकायाभावात्** (१०/७)[११३]

इनमें से '**तैजसमपि**', '**सम्यक्त्वं च**' तथा '**धर्मास्तिकायाभावात्**' ये तीन सूत्र तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बरमान्य पाठ में मिलते हैं, श्वेताम्बरमान्य पाठ में नहीं। इसके अतिरिक्त दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में '**भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि**' (३/१०) पाठ है, किन्तु श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में इस सूत्र के आदि में **तत्र** शब्द का प्रयोग है। फिर भी रत्नसिंह सूरि ने इनमें से दिगम्बरमान्य सूत्रपाठ ही स्वीकार किया है।[११४] इससे ज्ञात होता है कि श्वेताम्बरपरम्परा में एक और सूत्रपाठ प्रचलित था, जिसमें दिगम्बरमान्य सूत्र संगृहीत थे। उसी से रत्नसिंह सूरि ने ये सूत्र उद्धृत किये हैं। यह इस बात का सबूत है कि श्वेताम्बर-परम्परा में भी उमास्वाति को सूत्रों का कर्त्ता निर्विवादरूप से नहीं माना गया है। यदि माना गया होता, तो भाष्यमान्य सूत्रों के अतिरिक्त अन्य सूत्रों को रत्नसिंह सूरि जैसे श्वेताम्बराचार्य मान्यता न देते। यह भी सिद्ध है कि उपर्युक्त अतिरिक्त सूत्रोंवाला सूत्रपाठ भाष्यमान्य सूत्रपाठ के पहले से ही अस्तित्व में रहा होगा, जो सिद्धसेनगणी आदि टीकाकारों की दृष्टि में नहीं आया। इसलिए उन्होंने उमास्वाति को ही सूत्रकार और भाष्यकार दोनों मान लिया।

३.४. भाष्य के पूर्व भी कुछ श्वेताम्बरटीकाएँ रचित

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में उपलब्ध उल्लेखों से सिद्ध होता है कि उसके पूर्व भी तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ लिखी गई थीं। ''**एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः**''

११३. देखिये, पं. जुगलकिशोर मुख्तारकृत 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश'/पृ. ११३ तथा सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र जी-कृत सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना/पृ. २६।

११४. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र जी : सर्वार्थसिद्धि-प्रस्तावना/पृ. २६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

(१/३१) के भाष्य में कहा गया है—

"अत्राह—अथ केवलज्ञानस्य पूर्वैर्मतिज्ञानादिभिः किं सहभावो भवति नेत्युच्यते केचिदाचार्या व्याचक्षते नाभावः किन्तु तदभिभूतत्वादकिञ्चित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत्। यथा वा व्यभ्रे नभसि आदित्य उदिते भूरितेजस्त्वादादित्येनाभिभूतान्यतेजांसि ज्वलनमणि-चन्द्रनक्षत्रप्रभृतीनि प्रकाशनं प्रत्यकिञ्चित्कराणि भवन्ति तद्वदिति। केचिदप्याहुः—अपायसद्व्यतया मतिज्ञानं तत्पूर्वकं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमनःपर्ययज्ञाने च रूपिद्रव्यविषये तस्मान्नैतानि केवलिनः सन्तीति।" (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/३१/पृ.५५-५६)।

अनुवाद—"केवलज्ञान का पूर्ववर्ती मतिज्ञानादि के साथ सहभाव है या नहीं? इस विषय में कुछ आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान हो जाने पर भी मतिज्ञानादि का अभाव नहीं होता, अपितु ये केवलज्ञान से अभिभूत होकर अकिंचित्कर हो जाते हैं, जैसे केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर इन्द्रियाँ स्थित रहते हुए भी, कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं। अथवा जैसे निरभ्र आकाश में सूर्य का उदय होने पर उसके सातिशय तेज से अग्नि, रत्न, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि अन्य पदार्थों का तेज दबकर प्रकाश करने में असमर्थ हो जाता है, वैसे ही केवलज्ञान के प्रकट होने पर अन्य ज्ञान स्वकार्य में असमर्थ हो जाते हैं। किन्तु कुछ अन्य आचार्यों का ऐसा कहना है कि मतिज्ञानादि केवली के नहीं हुआ करते, क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रियों से उपलब्ध तथा ईहित पदार्थ के निश्चय को अपाय (अवाय) कहते हैं और मतिज्ञान अपायस्वरूप है तथा वह सद्रव्यतया हुआ करता है अर्थात् विद्यमान या विद्यमानवत् पदार्थ को ही ग्रहण करता है। किन्तु केवलज्ञान में ये दोनों बातें नहीं पायी जातीं, अत एव वह केवलज्ञान के साथ नहीं रहता। और इसीलिए श्रुतज्ञान भी उसके साथ नहीं रह सकता, क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान केवल रूपी द्रव्य को ही विषय करते हैं, अतएव वे भी उसके साथ नहीं रह सकते।"

यहाँ प्रस्तुत सूत्र के विषय में **अन्य आचार्यों के मत** उद्धृत किये गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि भाष्य के पूर्व भी तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार हो चुके हैं। इसी प्रकार "**सर्वस्य**" (२/४३) सूत्र का भाष्य करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"सर्वस्य चैते तैजसकार्मणे शरीरे संसारिणो जीवस्य भवतः। एके त्वाचार्या नयवादापेक्षं व्याचक्षते। कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम्। तेनैवैकेन जीवस्यानादिः सम्बन्धो भवतीति। तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति। सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य, कस्यचिदेव भवति।" (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/२/४३/पृ. ११४)।

अनुवाद—"तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं। **परन्तु कुछ आचार्य** इस सूत्र की व्याख्या नयवाद की अपेक्षा से करते हैं। वे कहते

हैं कि केवल कार्मणशरीर का ही अनादि सम्बन्ध है। एक उसके साथ ही जीव अनादि से सम्बद्ध होता है। तैजसशरीर तो लब्धि से उत्पन्न होता है और लब्धि सबको प्राप्त नहीं होती, किसी-किसी को ही होती है।''

यहाँ स्पष्ट शब्दों में ''**सर्वस्य**'' सूत्र की टीका में **पूर्व व्याख्याकारों का उल्लेख** किया गया है। तथा ''**संयमश्रुतप्रतिसेवना---**'' (९/४९) सूत्र में निर्दिष्ट **प्रतिसेवना** का विवेचन करते हुए भाष्य में कहा गया है—

''**प्रतिसेवना-पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद् बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। मैथुनमित्येके।**'' (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/ ९/४९/पृ. ४३३)।

अनुवाद—''अहिंसादि पाँच मूलगुणों (महाव्रतों) तथा रात्रिभोजनत्याग, इन छह में से किसी एक को भी दूसरों के दबाव में आकर भंग करनेवाला मुनि **पुलाक** कहलाता है। **कुछ आचार्यों का कथन है** कि पुलाक मुनि दूसरों के द्वारा जबरदस्ती किये जाने पर मैथुन भी कर लेता है।''

यहाँ भी पुलाक मुनि के विषय में **पूर्वाचार्यों का मत** वर्णित किया गया है। इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यकार से पूर्व भी तत्त्वार्थसूत्र के अनेक टीकाकार हो चुके थे। अतः तत्त्वार्थसूत्र की रचना भाष्य लिखे जाने के बहुत पहले हो चुकी थी। फलस्वरूप सूत्र और भाष्य के कर्त्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

४

एककर्तृत्व के पक्षधर हेतुओं की हेत्वाभासता के प्रमाण

सूत्र और भाष्य में सम्प्रदायभेद सिद्ध करनेवाले उपर्युक्त हेतुओं से, भाष्य में दर्शायी गयी विसंगतियों से तथा सूत्र और भाष्य के एककर्तृत्वविरोधी उपरिवर्णित अन्य स्पष्ट हेतुओं से सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्त्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, एक व्यक्ति नहीं। अतः उन्हें अभिन्न सिद्ध करनेवाले समस्त हेतु हेत्वाभास हैं। उनकी हेत्वाभासता के प्रमाण आगे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

४.१. स्वोपज्ञता सर्वमान्य नहीं है

श्वेताम्बरपक्ष

पं० सुखलाल जी संघवी का कथन है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की सबसे प्राचीन टीका **सिद्धसेन गणी** की है। उसमें तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की स्वोपज्ञता के सूचक निम्न-

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

लिखित उल्लेख हैं—

''**प्रतिज्ञातं चानेन 'ज्ञानं वक्ष्यामः' इति। अतस्तदनुरोधेनैकवचनं चकार आचार्यः।**'' (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति / १ / ९ / पृ. ६९)।

''**शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकाराकारेणैवमाह।**'' (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति १ / ११ / पृ. ७२)।

''**सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारो** ---।'' (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति / २ / ४५ / पृ.२०५)।

''**इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायाम्।**'' (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति / ७ / ३४ / पृ.१२०)।[११५]

संघवी जी का यह भी कथन है कि ''भाष्यगत अन्तिम कारिकाओं में से आठवीं कारिका को याकिनीसूनु **हरिभद्राचार्य** ने **शास्त्रवार्तासमुच्चय** में उमास्वातिकर्तृकरूप में उद्धृत किया है। भाष्य की प्रारंभिक अंगभूत कारिका के व्याख्यान में आचार्य देवगुप्त भी सूत्र और भाष्य को एककर्तृक सूचित करते हैं।''[११६]

दिगम्बरपक्ष

सिद्धसेन गणी के अन्तिम वचन में जो **उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये** पद है, उसका अर्थ 'उमास्वाति वाचक के द्वारा उपज्ञ (रचित) **सूत्र और भाष्य**' नहीं है, अपितु 'उमास्वाति वाचक द्वारा रचित **सूत्रभाष्य**' अर्थात् '**तत्त्वार्थसूत्र पर उमास्वाति वाचक द्वारा रचित भाष्य**', यह अर्थ है। यह **सूत्रभाष्ये** पद में प्रयुक्त सप्तमी-एकवचन से सिद्ध है। यदि सूत्र और भाष्य दोनों अर्थ अभिप्रेत होते तो **सूत्रभाष्ययोः** ऐसा द्विवचनात्मक प्रयोग होता। इससे स्पष्ट है कि सिद्धसेनगणी के प्रस्तुत उल्लेख से यह सिद्ध नहीं होता कि उमास्वाति सूत्र और भाष्य दोनों के कर्त्ता हैं। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री का भी मत है कि ''यहाँ **उमास्वातिवाचकोपज्ञ** पद का सम्बन्ध सूत्र से न होकर उसके भाष्य से है।'' (स.सि. / प्रस्ता. / पृ. ६५)।

किन्तु उपर्युक्त अन्य वचनों से ऐसा आभास मिलता है कि सिद्धसेनगणी तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार, इन दोनों व्यक्तियों को एक मानते थे। किन्तु एक मानना एक होने का प्रमाण नहीं है। तथा उनके अन्य उल्लेखों से इस बात में सन्देह भी पैदा होता है। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं कि ''उन्होंने

११५. तत्त्वार्थसूत्र / विवेचनसहित / प्रस्तावना / पृ. १५।
११६. वही / पृ. १६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

(सिद्धसेनगणी ने) अपनी टीका में कुछ ऐसा भी अभिप्राय व्यक्ति किया है कि जिसके आधार से विचार करने पर सूत्रकार से भाष्यकार भिन्न सिद्ध होते हैं। इसके लिए अध्याय आठ के "**मत्यादीनाम्**" सूत्र (८/७) की टीका देखनी चाहिए। यहाँ पर सिद्धसेनगणी के सामने यह प्रश्न है कि जब अन्य आचार्य "**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्**" सूत्र मानते हैं, तब सूत्र का वास्तविक रूप "**मत्यादीनाम्**" माना जाय या अन्य आचार्य जिस प्रकार उसका पाठ पढ़ते हैं, वैसा माना जाय। इस शंका का समाधान करते हुए पहले तो उन्होंने हेतुओं का आश्रय लिया है, किन्तु इतने मात्र से स्वयं संतोष होता न देख वे कहते हैं कि 'यतः **भाष्यकार ने भी इस सूत्र का इसी प्रकार अर्थ किया है,** अतः "**मत्यादीनाम्**" ही सूत्र होना चाहिए।' उनका समस्त प्रसंग को प्रकट करनेवाला टीकावचन इस प्रकार है—

"**अपरे तु प्रतिपदं पञ्चापि पठन्ति—मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानामिति। एवं चापार्थकः पाठो लक्ष्यते यतोऽनन्तरसूत्रे पञ्चादिभेदा ज्ञानावरणादय इत्यवधृतमेव। निर्ज्ञाताश्च स्वरूपतः प्रथमाध्याये व्याख्यातत्वात्। अत आदिशब्द एव च युक्तः। भाष्यकारोऽप्येवमेव सूत्रार्थमावेदयते।**" (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ८/७/पृ. १३३)।

"यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य '**भाष्यकारो**---' इत्यादि वचन है। इस वचन में भाष्यकार का सम्बन्ध सीधा "**मत्यादीनाम्**" सूत्र की रचना के साथ स्थापित न कर उसके अर्थ के साथ स्थापित किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ पर सिद्धसेनगणी सूत्रकार को भाष्यकार से भिन्न मान रहे हैं, अन्यथा वे किसी अपेक्षा से सूत्रकार और भाष्यकार में अभिन्नता स्थापित कर अपनी भाषा द्वारा इस प्रकार समर्थन करते, जिससे भाष्यकार से अभिन्न सूत्रकार ने ही "**मत्यादीनाम्**" सूत्र रचा है, इस बात का दृढ़ता के साथ समर्थन होता।

"जहाँ तक हमारा मत है इन पूर्वोक्त उल्लेखों के आधार से हम एक मात्र इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूल तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार अभिन्न व्यक्ति हैं, इस विषय में सिद्धसेनगणी की स्थिति संशयापन्न रही है, क्योंकि कहीं वे तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार को एक व्यक्ति मान लेते हैं और कहीं दो। इस स्थिति को देखते हुए मालूम ऐसा देता है कि सिद्धसेनगणी के काल तक तत्त्वार्थभाष्यकार ही मूल-तत्त्वार्थसूत्रकार हैं, यह मान्यता दृढ़मूल नहीं हो पायी थी। यही कारण है कि सिद्धसेनगणी किसी एक मत का निश्चयपूर्वक प्रतिपादन करने में असमर्थ रहे।" (स. सि./भा.ज्ञा./प्रस्ता./पृ. ६६)।

इस प्रकार सिद्धसेनगणी के पूर्वोद्धृत वचनों से सूत्रकार और भाष्यकार का एकत्व निश्चितरूप से सिद्ध नहीं होता, अतः मान्य संघवी जी का उपर्युक्त हेतु, हेतु न होकर हेत्वाभास है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इसके अतिरिक्त विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के बाद हुए **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की सटिप्पण प्रति** के रचयिता श्री **रत्नसिंहसूरि** के वचन पूर्व में उद्धृत किये जा चुके हैं, जिनमें उन्होंने **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** के कर्त्ता के लिए **'स कश्चिद् भाष्यकारो'** (वह कोई भाष्यकार) इन शब्दों का प्रयोग कर उसके नाम से अनभिज्ञता प्रकट की है, जिससे स्पष्ट होता है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी तक रत्नसिंहसूरि जैसे कट्टर श्वेताम्बर मुनि भी **तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति** को **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** का कर्त्ता नहीं मानते थे। इससे भी स्वोपज्ञता के विषय में गणी जी की संशयापन्न मनोदशा की पुष्टि होती है।

किन्तु **सूत्र** और **भाष्य** में जो **गम्भीर साम्प्रदायिक भेद** एवं **अन्तर्विरोध** पूर्व में प्रदर्शित किये गये हैं, उनसे स्पष्टतः सिद्ध है कि सूत्र और भाष्य एककर्तृक नहीं है।

४.२. उत्तमपुरुष की क्रिया सूत्रकार-भाष्यकार के एकत्व का प्रमाण नहीं

श्वेताम्बरपक्ष

पं० सुखलाल जी संघवी द्वारा प्रदर्शित दूसरा हेतु यह है कि "प्रारम्भिक कारिकाओं में और कुछ स्थानों पर भाष्य में भी **वक्ष्यामि, वक्ष्यामः** आदि प्रथम (उत्तम) पुरुष का निर्देश है और इस निर्देश में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्र में कथन किया गया है।" (त.सू. /वि.स. /प्रस्ता. /पृ. १६)। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं।

दिगम्बरपक्ष

यह तो व्याख्या की शैली है। व्याख्याकार कहीं उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर व्याख्या करता है, जिससे ऐसा लगता है जैसे मूलग्रन्थकार स्वयं अपने कथन की व्याख्या कर रहा हो[११७] और कहीं मूलग्रन्थकार के साथ अन्यपुरुष की क्रिया जोड़कर व्याख्या करता है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याख्याकार मूलग्रन्थकार के शब्दों की व्याख्या कर रहा है। प्रथम प्रकार की व्याख्या शैली के उदाहरण अनेक टीकाकारों की टीकाओं में मिलते हैं। यथा—

१. "तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र **वक्ष्यामः**।" (सर्वार्थसिद्धि / अध्याय १ / मंगलाचरण/ पृ. २)= उस मोक्ष का निर्दोष स्वरूप आगे (दसवें अध्याय के द्वितीय सूत्र में) कहेंगे।

---

११७. देखिए, पं. फूलचन्द्र शास्त्री : सर्वार्थसिद्धि-प्रस्तावना / पृ. ६८ तथा पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री: जैन साहित्य का इतिहास / भाग २ / पृ. २४०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२. "एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण **निर्देक्ष्यामः**।" (सर्वार्थ-सिद्धि / १ / १ / पृ. ४)= लक्षण और भेद के साथ इनका (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का) स्वरूप आगे विस्तार से कहेंगे।

३. "अवसरप्राप्तं बन्धं **व्याचक्ष्महे**।" (तत्त्वार्थराजवार्तिक ८ / १ / उत्थानिका / पृ. ५६१)= अब हम अवसरप्राप्त बन्ध का वर्णन करते हैं।

४. "सम्प्रति प्रस्तावायातं बन्धं **वक्ष्याम** इति।" (हारिभद्रीयवृत्ति / उत्थानिका / तत्त्वार्थसूत्र ८ / १ / पृ. ३६५)= अब हम अवसर प्राप्त बन्ध का वर्णन करेंगे।

५."निर्दिष्टे संवरनिर्जरे---। सम्प्रति तत्फलं मोक्षः तं **वक्ष्यामः**।" (सिद्धसेनगणी/ तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति /१० / १ / पृ. २९३ उत्थानिका)= संवर और निर्जरा का निर्देश किया जा चुका है। अब उनका जो मोक्षरूप फल होता है, उसका वर्णन करेंगे।

६. "यथाक्रममेतेषामनुष्ठानं स्वरूपं च **वक्ष्यामः**।" (व्यासभाष्य / पातञ्जलयोगदर्शन/ पाद २ / सूत्र २९) = इन यम, नियम आदि आठ योगांगों के अनुष्ठान और स्वरूप का क्रमशः निरूपण करेंगे।

यह शैली **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र** के **भाष्यकार** ने भी अपनायी है, जो निम्नलिखित उदाहरणों में द्रष्टव्य है—

१. "तं पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरे**णोपदेक्ष्यामः**।" (१/१)= सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के लक्षण और भेदों का हम आगे विस्तार से निरूपण करेंगे।

२. "अणवः स्कान्धाश्च सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्त इति **वक्ष्यामः**।" (१/५)= '**अणवः स्कन्धाश्च**' और '**सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते**' इन दो सूत्रों (५ / २५-२६) का हम आगे चलकर वर्णन करेंगे।

३. "परिणामो द्विविधः अनादिरादिमांश्च। तं परस्ताद् **वक्ष्यामः**।" (५/२२/पृ. २६७) =परिणाम दो प्रकार का होता है: अनादिमान् और आदिमान्। उसका कथन हम आगे (सूत्र ५/४२ में) करेंगे।

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि व्याख्याकार का अपने साथ उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर मूलग्रन्थकार के वचनों की व्याख्या करना व्याख्या की एक शैली है। अतः **तत्त्वार्थधिगमभाष्य** में **भाष्यकार** के साथ उत्तम (प्रथम) पुरुष की क्रिया का प्रयोग होने से यह सिद्ध नहीं होता कि भाष्यकार ही सूत्रकार हैं। यदि ऐसा माना जाय, तो **सर्वार्थसिद्धि-टीकाकार पूज्यपाद स्वामी, तत्त्वार्थराजवार्तिककार भट्ट अकलंकदेव, तत्त्वार्थभाष्य-वृत्तिकार सिद्धसेनगणी** तथा **तत्त्वार्थसूत्र-वृत्तिकार हरिभद्रसूरि** के भी सूत्रकार होने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि इन सब ने भी अपने साथ

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर **तत्त्वार्थ** के सूत्रों की व्याख्या की है। यतः उत्तमपुरुष की क्रिया का अपने साथ प्रयोग केवल भाष्यकार ने ही नहीं किया है, अपितु उपर्युक्त टीकाकारों ने भी किया है, अतः वह **साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास** है, किसी भी टीकाकार के सूत्रकार से अभिन्न होने का हेतु नहीं है।

मूलग्रन्थकार के साथ अन्यपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर उसके वचनों की व्याख्या करना भी व्याख्या की शैली है। इसके उदाहरण भी अनेक टीकाओं में मिलते हैं। जैसे—

१. "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम्। अथ किं तत्त्वमित्यत इद**माह**—।" (सर्वार्थसिद्धि १/४/ उत्थानिका/पृ. १०)= तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन कहलाता है, यह कहा जा चुका है। अब तत्त्व कौन-कौन हैं? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए सूत्रकार अगला सूत्र कहते हैं।

२. "त्रैविध्यविजृम्भितमोक्षकारणप्रदर्शनार्थ**माह**।" (तत्त्वार्थराजवार्तिक १/१/ उत्थानिका/पृ. ३) = त्रैविध्ययुक्त मोक्षहेतु बतलाने के लिए ग्रन्थकार उत्तर सूत्र का कथन करते हैं।

इन उदाहरणों में टीकाकार ने मूलग्रन्थकार के साथ **आह** क्रिया का प्रयोग किया है, जो **ब्रू** धातु से निष्पन्न अन्यपुरुष-एकवचन का वर्तमानकालीन रूप है। **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** में भी इसके उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा—

१. "**श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्**" (१/२०) इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं—"अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं **वक्ष्यति** 'द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति---।"= यहाँ शंकाकार कहता है कि सूत्रकार "**मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्व-पर्यायेषु**" (१/२७) इस सूत्र में बतलायेंगे कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय समान हैं---।

यहाँ भाष्य में सूत्रकार (मूलग्रन्थकर्ता) के साथ अन्यपुरुष की क्रिया **वक्ष्यति** का प्रयोग किया गया है।

२. "**आद्ये परोक्षम्**" (१/११) इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है—"आद्ये सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये **शास्ति**।"= **आद्ये** इस द्विवचनात्मकरूप के प्रयोग से ज्ञात होता है कि आचार्य (सूत्रकार) "**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्**" (१/९) इस सूत्र में प्रदर्शित क्रम के अनुसार यहाँ प्रथम और द्वितीय ज्ञान का निर्देश करते हैं (**शास्ति**)। यहाँ **शास्ति** '**शास्**' धातु से निष्पन्न अन्यपुरुष-एकवचन की क्रिया है, जो सूत्रकार के साथ प्रयुक्त हुई है। सिद्धसेनगणी सूत्रकार और भाष्यकार को अभिन्न मानते हैं। अतः उन्हें लगा कि सूत्रकार के साथ अन्यपुरुष की क्रिया का प्रयोग होने

से वे भाष्यकार से भिन्न सिद्ध होंगे। फलस्वरूप उन्होंने तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति में स्पष्ट किया है कि यहाँ ग्रन्थकार ने अपने को सूत्रकार और भाष्यकार के रूप में विभाजित कर सूत्रकार के साथ **अन्यपुरुष-एकवचनात्मक 'शास्ति' क्रिया** का प्रयोग किया है—"**शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधात्मानं विभज्य सूत्रकार-भाष्यकाराकारेणैवमाह शास्तीति, सूत्रकार इति शेषः।**" (तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति १/११/पृ.७२)।

यह ठीक है कि जो ग्रन्थकार स्वयं ही अपने ग्रन्थ की टीका रचता है वह स्वयं को ग्रन्थकार और टीकाकार के रूप में विभक्त कर अपने ग्रन्थकाररूप के साथ अन्यपुरुष की क्रिया प्रयुक्त करता है। उदाहरणार्थ, पं० आशाधर जी ने स्वरचित **अनगारधर्मामृत** की दो टीकाएँ स्वयं लिखी हैं और अपने ग्रन्थकाररूप के साथ अन्यपुरुष की क्रिया का प्रयोग किया है। जैसे ग्रन्थ के आदि में अरहन्त, सिद्ध, गणधर आदि का स्तवन करने के पश्चात् वे कहते हैं—"अधुना जिनागमव्याख्यातृनारातीयसूरी-**नभिष्टौति**" (ज्ञानदीपिका टीका १/४/पृ.१०)। अर्थात् "ग्रन्थकार अब जिनागम के व्याख्याता आरातीय आचार्यों की स्तुति करते हैं।" और इसके बाद वे '**ग्रन्थार्थतो गुरुपरम्परया**' इत्यादि श्लोक (१/४/पृ.१०) प्रस्तुत करते हैं, जिसमें उक्त आचार्यों की स्तुति की गयी है। यहाँ पण्डित जी के ग्रन्थकाररूप के साथ प्रयुक्त **अभिष्टौति** क्रिया अन्यपुरुष-एकवचनात्मक है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि ग्रन्थकार और टीकाकार भिन्न व्यक्ति हैं। तथापि उन्हें अभिन्न कह देने मात्र से वे अभिन्न सिद्ध नहीं होते, इसे प्रमाण से पुष्ट करना आवश्यक है। **सिद्धसेनगणी** ने प्रमाण से पुष्ट किये बिना ही तत्त्वार्थसूत्रकार और उसके भाष्यकार को अभिन्न कह दिया है, जो निरर्थक है। **जिन ग्रन्थकार और टीकाकार का एकत्व विवादास्पद है, उनके एकत्व का निर्णय मूलग्रन्थ और उसकी टीका में व्यक्त सिद्धान्तों की एकता और दोनों की प्ररूपणशैली में पायी जानेवाली संगति से ही हो सकता है।** ये एकता और संगति **अनगारधर्मामृत** और उसकी टीका में उपलब्ध हैं, किन्तु **तत्त्वार्थसूत्र** एवं उसके **श्वेताम्बरीयभाष्य** में उपलब्ध नहीं हैं, इसके विपरीत उनमें सैद्धान्तिक विरोध एवं प्ररूपणविसंगति की उपलब्धि होती है, जिनके प्रमाण पूर्व में दिये जा चुके हैं। उनसे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार और भाष्यकार अलग-अलग व्यक्ति हैं, एक नहीं। अस्तु, **शास्ति** क्रिया का प्रयोग इस बात का उदाहरण है कि **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** में भी सूत्रकार के साथ अन्यपुरुष की क्रिया प्रयुक्त हुई है।

३. इसी प्रकार "**आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ**" (त.सू./श्वे./१/३५) इस सूत्र के भाष्य (पृ.६१) में कहा गया है—"आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगम**माह**।" अर्थात् "**नैगम-संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः**" (त.सू./श्वे./१/३४) इस सूत्र में नयों का जो क्रम बतलाया गया है, उसके अनुसार सूत्रकार **आद्य** शब्द से नैगमनय का कथन करते

हैं। इस उदाहरण में भाष्यकार ने सूत्रकार के साथ अन्यपुरुष की **आह** क्रिया का प्रयोग किया है।

इस प्रकार **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** में एक ओर भाष्यकार के साथ उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग हुआ है, तो दूसरी ओर सूत्रकार के साथ अन्यपुरुष की क्रिया व्यवहृत हुई है। **अतः जहाँ उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग दोनों को अभिन्न सिद्ध करता है, वहाँ अन्यपुरुष की क्रिया उन्हें भिन्न साबित करती है**। इस विरोध के परिणामस्वरूप उत्तमपुरुष की क्रिया दोनों को अभिन्न सिद्ध करने में असमर्थ रहती है, इससे सिद्ध होता है कि वह हेतु नहीं, अपितु हेत्वाभास है।

४.३. सूत्र और भाष्य में विरोध एवं विसंगतियाँ

श्वेताम्बरपक्ष

पं० सुखलाल जी संघवी ने भाष्य को स्वोपज्ञ सिद्ध करने के लिए तीसरा हेतु यह बतलाया है कि भाष्य में किसी भी स्थल पर "सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की खींचातानी नहीं हुई, कहीं सूत्र का अर्थ करने में सन्देह या विकल्प नहीं किया गया, न सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रखकर सूत्र का अर्थ किया गया और न कहीं सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है।" (त.सू. / वि.स. / प्रस्ता. / पृ. १६)।

दिगम्बरपक्ष

इस हेतु के विषय में **सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री** का कहना है कि "प्रथम तो सूत्रों का अर्थ करने में शब्दों की खींचातानी न होना, सन्देह या विकल्प न होना आदि बातें किसी व्याख्या के सूत्रकारकृत होने में नियामक नहीं हो सकतीं, क्योंकि पातञ्जलसूत्रों पर विरचित व्यास-भाष्य में भी उक्त बातें पायी जाती हैं, किन्तु वह सूत्रकारकृत नहीं है। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्र का उक्त भाष्य उक्त बातों से एकदम अछूता भी नहीं है।" (जै.सा.इ./भाग २/पृ. २४१)।

मेरा निवेदन है कि भाष्यकार ने भाष्य में कोई छोटी-मोटी खींचातानी नहीं की है, कोई मामूली सन्देह या विकल्प पैदा नहीं किये हैं, उन्होंने इतनी गम्भीर सैद्धान्तिक विपरीतताएँ और प्ररूपणशैली में इतनी ज्यादा विसंगतियाँ उत्पन्न की हैं कि उनके द्वारा वे अपने को सूत्रकार से बिलकुल विरुद्ध दिशा में खींचकर ले गये हैं और यह सिद्ध कर दिया है कि वे सूत्रकार से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। इन सैद्धान्तिक विपरीतताओं और प्ररूपण-शैलीगत विसंगतियों का प्रदर्शन पूर्व (शीर्षक २) में किया

जा चुका है। उनसे सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार को अभिन्न साबित करने के लिए मान्य संघवी जी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त हेतु असत्य हैं।

५
एककर्तृत्वविरोधी बाह्य हेतु

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में एककर्तृत्व-विरोधी कुछ बाह्य हेतु भी प्रस्तुत किये हैं। उनमें पहला यह है कि तत्त्वार्थसूत्र के काल में जितने भी सूत्रग्रन्थ रचे गये, उनमें से किसी पर भी उसके रचयिता ने कोई भाष्य या वृत्ति नहीं रची। पातञ्जलसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, वेदान्तसूत्र आदि इसके उदाहरण हैं। (जै.सा.इ./भा.२/पृ. २४४)। इससे इस अनुमान को बल मिलता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी अपने ग्रन्थ पर कोई भाष्य नहीं रचा।

दूसरे हेतु पर प्रकाश डालते हुए पण्डित जी कहते हैं—"तत्त्वार्थभाष्य की प्रारंभिक कारिकाओं में एक कारिका इस प्रकार है—

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य।
कः शक्तः प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्त्तुम्॥ २३॥

"इसमें जिनवचनरूपी महोदधि की महत्ता बतलाते हुए उसे **दुर्गमग्रन्थभाष्यपार** बतलाया है। टीकाकार **देवगुप्तसूरि** ने इस पद का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

"**दुर्गमो ग्रन्थभाष्ययोः पारो निष्ठाऽस्येति दुर्गमग्रन्थभाष्यपारः। तत्रानुपूर्व्या पदवाक्यसन्निवेशो ग्रन्थः। तस्य महत्त्वादध्ययनमात्रेणापि दुर्गमः पारः। तस्यैवार्थविवरणं भाष्यं, तस्यापि नयवादानुगमत्वादलब्धपारः।**" (सम्बन्धकारिका/२३/तत्त्वार्थाधिगमसूत्र/भाग १/जी.च.साकरचंद जवेरी, मुंबई/पृ. १६)।

"अर्थात् उस जिनवचनरूपी महोदधि के ग्रन्थों और उन ग्रन्थों के अर्थ को बतलाने वाले जो उनके भाष्य हैं, उनका पार पाना कठिन है।

"यहाँ तत्त्वार्थभाष्यकार ने आगमग्रन्थों के साथ उनके भाष्यों का भी उल्लेख किया है। अतः यह स्पष्ट है कि **तत्त्वार्थभाष्य** की रचना **भाष्यों** के बाद में ही हुई। भाष्यों का रचनाकाल विक्रम की ७वीं शती है। अतः तत्त्वार्थभाष्य सातवीं शती के पहले की रचना नहीं हो सकता।" (त.सू./प्रस्ता./पृ. ३१)।

इन दो बहिरंग हेतुओं से भी यह सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता के द्वारा उसके भाष्य की रचना नहीं हुई।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इस प्रकार सूत्रकार और भाष्यकार के सम्प्रदायगत भेद, सूत्र और भाष्य में उपलब्ध विसंगतियों तथा अन्य अन्तरंग-बहिरंग हेतुओं से सिद्ध है कि सूत्रकार और भाष्यकार अलग-अलग व्यक्ति हैं, एक नहीं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपाद स्वामी द्वारा लिखी गई सर्वार्थसिद्धि टीका तत्त्वार्थाधिगमभाष्य से पूर्ववर्ती है। इससे भी साबित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता तथा भाष्य के कर्त्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। इस तथ्य का उद्घाटन अगले प्रकरण में किया जा रहा है।

✧✧✧

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

द्वितीय प्रकरण

सर्वार्थसिद्धि की भाष्यपूर्वता के प्रमाण

१

सर्वार्थसिद्धि और भाष्य में वाक्यगत साम्य

श्वेताम्बर विद्वानों तथा दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने **सर्वार्थसिद्धि-टीका** और **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** में अनेक जगह वाक्यगत साम्य होने से यह निष्कर्ष निकाला है कि सर्वार्थसिद्धि में भाष्य का अनुकरण किया गया है, अतः भाष्य की रचना सर्वार्थसिद्धि के पूर्व हुई है। किन्तु यह निष्कर्ष किन्हीं प्रमाणों पर आश्रित नहीं है, अपितु स्वबुद्धिकल्पित है। उपलब्ध प्रमाण ठीक इसके विपरीत निष्कर्ष प्रदान करते हैं। उन प्रमाणों को हम बाद में प्रस्तुत करेंगे। पहले उन वाक्यों पर दृष्टि डाल ली जाय जो सर्वार्थसिद्धि और भाष्य में प्रायः ज्यों के त्यों मिलते हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१

स० सि० — ''एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद् विस्तरेण निर्देक्ष्यामः।'' १/१/पृ. ४।

भाष्य — ''तं पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेक्ष्यामः।'' १/१।

२

स० सि० — ''एषां प्रपञ्च उत्तरत्र वक्ष्यते।''१/१/१८/पृ. ११।

भाष्य — ''तांल्लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद् विस्तरेणोपदेक्ष्यामः।'' १/४।

३

स० सि० — ''चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति।''१/१९।

भाष्य — ''चक्षुषा नोइन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति।'' १/१९।

४

स० सि० — ''काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना।'' १/५।

फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भाष्य — "यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवः।"१/५।

५

स० सि० — "जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः। लवणोदादयः समुद्राः। यानि लोके शुभानि नामानि तन्नामानस्ते। --- इत्येवमसंख्येया द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमण-पर्यन्ता वेदितव्याः।" ३/७।

भाष्य — "जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणादयश्च समुद्राः शुभनामान इति। यावन्ति लोके शुभानि नामानि तन्नामान इत्यर्थः। --- इत्येवमसंख्येया द्वीपसमुद्राः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता वेदितव्या इति।" ३/७।

६

स० सि० — "एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते। एक एव जायेऽहम्। एक एव म्रिये। न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति।---एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति। परजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते। ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते।" ९/७/८०२/पृ.३२५-३२६।

भाष्य — "एक एवाहं न मे कश्चित्स्वः परो वा विद्यते। एक एवाहं जाये। एक एव म्रिये। न मे कश्चित् स्वजनसंज्ञः परजनसंज्ञो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति---। एवं ह्यस्य चिन्तयतः स्वजनसंज्ञकेषु स्नेहानुराग-प्रतिबन्धो न भवति, परसंज्ञकेषु च द्वेषानुबन्धः। ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव यतत इत्येकत्वानुप्रेक्षा।"९/७।

७

स० सि० — "ऐन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहमज्ञं शरीरं ज्ञोऽहमनित्यं शरीरं नित्योऽह-माद्यन्तवच्छरीरमनाद्यनन्तोऽहम्। बहूनि मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः। स एवाहमन्यस्तेभ्य---।" ९/७/८०३/पृ. ३२६।

भाष्य — "ऐन्द्रियकं शरीरमतीन्द्रियोऽहम्। अनित्यं शरीरं नित्योऽहं। अज्ञं शरीरं ज्ञोऽहम्। आद्यन्तवच्छरीरमनाद्यन्तोऽहम्। बहूनि च मे शरीरशतसह-स्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः। स एवायमहमन्यस्तेभ्य इत्यनु-चिन्तयेत्।" ९/७।

८

स० सि० — "श्रुतं—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। स्नातका अपगत-श्रुताः केवलिनः।"९/४७/९१३/पृ. ३६४।

भाष्य — "श्रुतं—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरौ। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। श्रुतापगतः केवली स्नातक इति।"९/४९/पृ. ४३३।

९

स० सि० — "प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। बकुशो द्विविधः-उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्चेति। तत्रोपकरण-बकुशो बहुविशेषयुक्तोपकरणाकांक्षी। शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु काञ्चिद् विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति।" ९/४७/९१४।

भाष्य — "प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद् बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। मैथुनमित्येके। बकुशो द्विविधः-उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्च। तत्रोपकरणाभिष्वक्तचित्तो---। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु काञ्चिद् विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति।"९/४९/पृ. ४३३।

१०

स० सि० — "लिङ्गं द्विविधं—द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति। भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति। द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः।"९/४७/९१६।

भाष्य — "लिङ्ग द्विविधं—द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च। भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था भावलिङ्गे भवन्ति। द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः।"९/४९/पृ. ४३४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

वाक्यों में इतना अधिक साम्य होना सिद्ध करता है कि सर्वार्थसिद्धिकार और भाष्यकार दोनों में से किसी ने दूसरे का अनुकरण किया है। किसने किया है, जब यह खोज करते हैं, तो पाते हैं कि भाष्यकार ने सर्वार्थसिद्धि का अनुकरण किया है। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है—

२
सर्वार्थसिद्धि में भाष्य का अनुकरण नहीं

भाष्य के अंत में दिये हुए ३२ श्लोक **तत्त्वार्थराजवार्तिक** (१०/९/१४/पृ. ६४९-६५०), **जयधवलाटीका** (भाग १६/पृ. १९०-१९५) तथा **तत्त्वार्थसार** (अधि.८/श्लोक २१-३६,४३-५४) में भी उलब्ध होते हैं।[११८] इससे पता चलता है कि ये श्लोक अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। ऐसा होते हुए भी सर्वार्थसिद्धि में इन्हें उद्धृत नहीं किया गया। यदि पूज्यपाद स्वामी ने भाष्य के वाक्यों का अनुकरण किया होता, तो वे इन श्लोकों को भी अपनी टीका में अवश्य उद्धृत करते। किन्तु ऐसा नहीं किया। इससे सिद्ध है कि सर्वार्थसिद्धि के रचना के समय भाष्य उपलब्ध नहीं था।

इसी प्रकार "**वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य**" (त.सू./श्वे./५/२२) के भाष्य में भाष्यकार ने **परत्वापरत्व** के तीन भेद बतलाये हैं : **प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत** और **कालकृत**। इनमें से प्रशंसाकृत भेद का उल्लेख तत्त्वार्थराजवार्तिककार ने भी किया है। यथा—"**क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्ते परत्वापरत्वे।---प्रशंसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्मः, तद्विपरीतोऽधर्मोऽपर इति।**" (५/२२/२२/पृ. ४८१)। किन्तु सर्वार्थसिद्धि में यह भेद उपलब्ध नहीं होता। उसमें केवल क्षेत्रकृत और कालकृत भेद ही मिलते हैं—"**परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः।**" (५/२२/पृ. २२३)। यह भी इस बात का प्रमाण है कि सर्वार्थसिद्धिकार के समक्ष भाष्य उपस्थित नहीं था।

३
भाष्य में सर्वार्थसिद्धि का अनुकरण

सर्वार्थसिद्धि और भाष्य में कुछ ऐसे समान सिद्धान्त हैं, जो सर्वार्थसिद्धि से ही भाष्य में ग्रहण किये जा सकते हैं, भाष्य से सर्वार्थसिद्धि में नहीं, क्योंकि वे दिगम्बर-मान्य सिद्धान्त हैं, और श्वेताम्बरमत में अमान्य हैं। यथा—

---

११८. पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास/द्वि.सं./पृ. ५२६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

क—'**निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्**' (२/१७) के भाष्य में उपकरण के दो भेद किये गये हैं : बाह्य और अभ्यन्तर।[११९] ये श्वेताम्बर-आगमों में मान्य नहीं हैं। तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेनगणी कहते हैं कि "**आगम में ये दो भेद नहीं मिलते। यह आचार्य का ही कोई सम्प्रदाय है।**"[१२०] उक्त भेद दिगम्बरमत में मान्य हैं, जिनका उल्लेख सर्वार्थसिद्धि में किया गया है।[१२१] इससे स्पष्ट होता है कि वे सर्वार्थसिद्धि से ही भाष्य में ग्रहण किये गये हैं।

ख—"**नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः**" (३/३) इस सूत्र का भाष्य करते हुए रत्नप्रभाभूमि के नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल बतलाई गई है।[१२२] सिद्धसेनगणी कहते हैं कि "**भाष्यकार ने यह कथन अतिदेश से किया है। मैंने तो आगम में कहीं भी प्रतरादिभेद से नारकियों की अवगाहना नहीं देखी।**"[१२३] यह अवगाहना दिगम्बरागम में मान्य है। इसका भी वर्णन सर्वार्थसिद्धि में किया गया है।[१२४] इससे भी सिद्ध है कि यह अवगाहना सर्वार्थसिद्धि से ही भाष्य में ग्रहण की गई है।

ग—"**आर्याम्लेच्छाश्च**" (३/१५) के भाष्य में अन्तरद्वीपों की संख्या ९६ बतलाई है। यह श्वेताम्बर-आगम के विरुद्ध है। उसमें अन्तरद्वीप ५६ ही बतलाये गये हैं। अतः टीकाकार सिद्धसेनगणी रोष प्रकट करते हुए कहते हैं—"**इस अन्तरद्वीपकभाष्य को किन्हीं दुर्विदग्धों ने नष्ट कर दिया है, जिससे भाष्यों में ९६ अन्तरद्वीप मिलते हैं। यह अनार्ष है, क्योंकि 'जीवाभिगम' आदि में ५६ अन्तरद्वीप बतलाये गये हैं। वाचकमुख्य सूत्र का उल्लंघन करके कथन नहीं कर सकते, क्योंकि यह असंभव है।**"[१२५] अर्थात् सिद्धसेन के अनुसार किसी अन्य ने ५६ की जगह ९६ संख्या कर दी है।

---

११९. "उपकरणं बाह्यमभ्यन्तरं च।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य २/१७।

१२०. "आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति २/१७/पृ. १६६।

१२१. "येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। पूर्ववत्तदपि द्विविधम्।" सर्वार्थसिद्धि २/१७।

१२२. "सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलमिति शरीरोच्छ्रायो नारकाणां रत्नप्रभायाम्।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/३/३/पृ.१४५।

१२३. "उक्तमिदमतिदेशतो भाष्यकारेणास्ति चैतन्न तु मया क्वचिदागमे दृष्टं प्रतरादिभेदेन नारकाणां शरीरावगाहनमिति।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ३/३/पृ. २४०।

१२४. "तेषामुत्सेधः प्रथमायां सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलयः।" सर्वार्थसिद्धि ३/३।

१२५. "एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन षण्णवतिरन्तरद्वीपिका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात्। नापि वाचकमुख्याः सूत्रोल्लङ्घनेनाभिदधत्यसम्भाव्यमानत्वात्।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ३/१५/पृ. २६७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

बाद के प्रतिलिपिकारों ने भाष्य में ९६ के स्थान में ५६ कर दिया है। इस विषय में पं० नाथूराम जी प्रेमी टिप्पणी करते हैं—"सर्वार्थसिद्धि और तिलोयपण्णत्ति आदि दिगम्बरग्रन्थों में भी ९६ ही अन्तरद्वीप बतलाये हैं। भाष्य में भी ९६ का ही पाठ रहा होगा। परन्तु आश्चर्य है कि मुद्रित भाष्यपाठों में ५६ ही अन्तरद्वीप मुद्रित हैं और उक्त भाष्यांश के नीचे ही ९६ अन्तरद्वीपों की सूचना देने वाली सिद्धसेन की तथा हरिभद्र की टीका मौजूद है। प्रतिलिपिकारों अथवा मुद्रित करानेवालों का यह अपराध अक्षम्य है।" (जै.सा.इ./द्वि.सं./पा.टि./पृ.५३७)।

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि जब श्वेताम्बर-आगमों में अन्तरद्वीपों की संख्या ५६ ही है, तब भाष्यकार ने ९६ की संख्या कहाँ से ग्रहण की? **निश्चित ही सर्वार्थसिद्धि से ग्रहण की है।**

घ—भाष्य में आठ ही लौकान्तिक देव वर्णित हैं—"**एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा**---।" (४/२६) किन्तु श्वेताम्बर-आगम **भगवतीसूत्र, ज्ञातृधर्मकथा, स्थानांग** आदि में नौ बतलाये गये हैं। (प्रेमी/जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ.५३८)। **सर्वार्थसिद्धि** (४/२५) में भी आठ ही भेदों का कथन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि भाष्यकार ने सर्वार्थसिद्धि का अनुकरण किया है।

ङ—"**एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः**" (१/३१) के भाष्य में प्रश्न उठाया गया है कि केवलज्ञान के साथ मतिज्ञानादि रहते हैं या नहीं? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि कुछ आचार्यों के अनुसार मतिज्ञानादि का अभाव नहीं होता, किन्तु केवलज्ञान से अभिभूत हो जाने से वे अकिंचित्कर हो जाते हैं। तथा कुछ आचार्यों का मत है कि मतिज्ञानादि केवलज्ञान के साथ नहीं रह सकते, क्योंकि मतिज्ञानादि-उपयोग क्रमशः होते हैं, जबकि केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग युगपत् होते हैं। इसके अतिरिक्त मतिज्ञानादि चार ज्ञान क्षयोपशमजन्य हैं, किन्तु केवलज्ञान क्षयजन्य। इसलिए केवली के शेष ज्ञान नहीं होते।[१२६]

यहाँ भाष्यकार ने अन्य कुछ आचार्यों के मत के अन्तर्गत केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग के युगपत् होने का जो मत बतलाया है, वह दिगम्बरमत है। वह

---

१२६. "अत्राह—अथ केवलज्ञानस्य पूर्वैर्मतिज्ञानादिभिः किं सहभावो भवति नेत्युच्यते। केचिदाचार्या व्याचक्षते, नाभावः किन्तु तदभिभूतत्वादकिञ्चित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत्।--- केचिदप्याहुः ---किं चान्यत्—मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपत्। सम्भिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत्सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति। किं चान्यत्—क्षयोपशमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वाणि क्षयादेव केवलम्। तस्मान्न केवलिनः शेषाणि ज्ञानानि सन्तीति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १/३१/पृ.५६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

श्वेताम्बरमत के विरुद्ध है। श्वेताम्बर-आगमों में केवली के भी ज्ञानदर्शनोपयोग का क्रमशः होना माना गया है। इसीलिए **सिद्धसेनगणी** सन्मतिसूत्र के कर्त्ता के **उपयोग-अभेदवाद** पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं—"अपने को पण्डित माननेवाले कुछ लोग सूत्रों का अर्थ कुछ का कुछ करते हैं। तर्कबल का आश्रय लेकर कहते हैं कि केवली का उपयोग वारंवार (क्रमशः) नहीं होता। किन्तु यह प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि आम्नाय में अनेक सूत्र प्रतिपादित करते हैं कि केवली का उपयोग वारंवार (क्रमशः) होता है।"[१२७] उपर्युक्त दिगम्बरमत का प्रतिपादन सर्वार्थसिद्धि में किया गया है।[१२८] अब यह तो युक्तिसंगत सिद्ध हो नहीं सकता कि इस दिगम्बरसिद्धान्त को स्वयं दिगम्बराचार्य पूज्यपाद स्वामी ने श्वेताम्बराचार्यकृत **भाष्य** से ग्रहण किया होगा। युक्तिसंगत यही सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर-भाष्यकार ने इसे दिगम्बरग्रन्थ **सर्वार्थसिद्धि** से उद्धृत किया है।

चूँकि उपर्युक्त पाँचों सिद्धान्त दिगम्बरमत के सिद्धान्त हैं, किन्तु दिगम्बरग्रन्थ **सर्वार्थसिद्धि** और श्वेताम्बरग्रन्थ **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** दोनों में मिलते हैं, इससे यह स्वतः सिद्ध है कि वे सर्वार्थसिद्धि से ही भाष्य में ग्रहण किये गये हैं। अतः सर्वार्थसिद्धि की रचना भाष्य से पूर्व हुई है।

४

सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ का भाष्य में उल्लेख

इसके अतिरिक्त सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ का भी उल्लेख भाष्य में किया गया है। "**मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**" यह सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ है (१/२६)। भाष्य में "**मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**" (१/२७) पाठ है। अर्थात् भाष्य में **द्रव्य** शब्द के साथ **सर्व** विशेषण का प्रयोग किया गया है। किन्तु "**श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्**" (१/२०) के भाष्य में भाष्यकार "**द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**" यह सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ ही लिखते हैं, जैसे "**अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति 'द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति।**" सिद्धसेनगणी और हरिभद्रसूरि ने अपनी टीकाओं में भी भाष्य के इस अंश को इसी रूप में स्वीकार किया है।[१२९] इससे यह विश्वास करने

---

१२७. "यद्यपि केचित्पण्डितम्मन्याः सूत्राण्यन्यथाकारमर्थमाचक्षते तर्कबलानुविद्धबुद्धयो वारंवारेणोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणयामः, यत आम्नाये भूयांसि सूत्राणि वारंवारेणोपयोगं प्रतिपादयन्ति।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति १/३१/पृ. १११।

१२८. "साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते, निरावरणेषु युगपत्।" सर्वार्थसिद्धि/२/९/पृ. ११८।

१२९. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री : सर्वार्थसिद्धि-प्रस्तावना/पृ. ४५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

के लिए महत्त्वपूर्ण आधार मिल जाता है कि **भाष्य** लिखते समय भाष्यकार के समक्ष **सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ** अवश्य रहा है।

डॉ० सागरमल जी को यह स्वीकार्य नहीं है। उनका कथन है कि भाष्यकार ने स्वरचित सूत्र का ही **सर्व** विशेषणरहित अंश उद्धृत किया है। **सर्व** विशेषण को उन्होंने वहाँ क्यों छोड़ा, इसके समाधानार्थ डॉक्टर सा० ने हेतुओं के कई विकल्प प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से प्रामाणिक हेतु कौनसा है, यह बतलाने में वे स्वयं असमर्थ रहे हैं। वे विकल्प इस प्रकार हैं—

१. आवश्यक नहीं है कि ग्रन्थकार पूरे (विशेषणादि-सहित ही) सूत्र को उद्धृत करे।

२. 'द्रव्येषु' पाठ स्वतः बहुवचनात्मक है, अतः **सर्व** विशेषण को वहाँ उद्धृत करना आवश्यक भी नहीं था।

३. हो सकता है भाष्यकार की विस्मृति से छूट गया हो।

४. हो सकता है लिपिकार की भूल से छूट गया हो।

५. हो सकता है कि भाष्यकार ने **सर्व** विशेषणरहित पाठ ही रखा हो और बाद में किसी ने **सर्व** विशेषण जोड़ दिया हो। (जै.ध.या.स./पृ. २८०-८१)।

इनमें अन्तिम विकल्प यथार्थ नहीं है, क्योंकि भाष्यमान्य सूत्र में **सर्व** विशेषण का प्रयोग भाष्यकार ने ही किया है, इसकी पुष्टि उक्त सूत्र के भाष्य से होती है। भाष्य में भी उन्होंने **सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु** ही लिखा है और **सर्वाणि द्रव्याणि** इस प्रकार समासविग्रह भी किया है। देखिए—"**मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्विषयनिबन्धो भवति सर्व-द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। ताभ्यां हि सर्वाणि द्रव्याणि जानीते न तु सर्वैः पर्यायैः।**" (१/२७)।

दूसरा विकल्प युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यह बिलकुल सत्य है कि **द्रव्येषु** पाठ स्वतः बहुवचानत्मक है, अतः **सर्व** विशेषण को वहाँ उद्धृत करना आवश्यक नहीं था। इससे यह अर्थ बिना कहे ही ध्वनित होता है कि उक्त कारण से सूत्र में भी **सर्व** विशेषण अनावश्यक था, क्योंकि कम से कम शब्दों का प्रयोग करते हुए अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन सूत्ररचना का प्रयोजन होता है। सर्वार्थसिद्धि में उक्त सूत्र का पाठ 'सर्व' विशेषणरहित ही है। इससे सिद्ध है कि वही पाठ सूत्रनियम के अनुरूप होने से निर्दोष है।

अब प्रश्न उठता है कि जब भाष्यकार यह जानते थे कि 'सर्व' विशेषणरहित पाठ ही निर्दोष है, तब उन्होंने उसे सूत्र में क्यों जोड़ा? इसका समाधान यह है कि 'द्रव्येषु' पद में प्रयुक्त बहुवचनात्मक विभक्ति से **सर्वद्रव्य-रूप** अर्थ उतनी सरलता

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और शीघ्रता से हृदयंगम नहीं हो पाता, जितनी सरलता और शीघ्रता से **सर्व** विशेषण जोड़ देने से हो जाता है। **द्रव्येषु** पद से कोई **सर्वद्रव्य** अर्थ ग्रहण न कर **बहुद्रव्य** अर्थ भी ग्रहण कर सकता है। इसीलिए पूज्यपाद स्वामी को टीका में यह स्पष्ट करना पड़ा है कि **द्रव्येषु** में बहुवचन का निर्देश जीव, धर्म, अधर्म, काल, आकाश और पुद्गल इन सभी द्रव्यों की समष्टि का बोध कराने के लिए किया गया है—"**द्रव्येषु' इति बहुवचननिर्देशः सर्वेषां जीवधर्माधर्मकालाकाशपुद्गलानां सङ्ग्रहार्थः।**" (स.सि./१/२६)। **सर्व** विशेषण जोड़ देने से इस स्पष्टीकरण के बिना भी सर्वसाधारण को सर्वद्रव्यरूप अर्थ का बोध हो जाता है। इस विशेषता के कारण उक्त भाष्यमान्य सूत्रपाठ में **सर्व** विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे '**सर्वद्रव्येषु असर्वपर्यायेषु**' ऐसा शब्द-वैपरीत्य निष्पन्न हो जाने से '**सर्व द्रव्यों में**, किन्तु **सर्व पर्यायों में नहीं**' ऐसा अर्थबोध भी सुगम हो जाता है। तथा "**सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य**" (१/३०) इस सूत्र के साथ भी **सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु** ऐसा शब्दवैपरीत्य घटित हो जाता है। इसी प्रयोजन से भाष्यकार ने **द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु** इस सूत्रभाग में **सर्व** विशेषण जोड़कर उसे **सर्वद्रव्येष्व-सर्वपर्यायेषु** इस रूप में परिवर्तित कर दिया है, जो इस बात का प्रमाण है कि भाष्य-मान्य पाठ सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ का विकसितरूप है, अतः वह सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ से अर्वाचीन है।

तथा उपर्युक्त प्रयोजन से **सर्व** विशेषण जोड़ने के बाद भी भाष्यकार ने जो "**श्रुतं मूतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्**" (१/२०) इस सूत्र के भाष्य में उसे **सर्व** विशेषण-रहित **द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु** इस रूप में उद्धृत किया है, उसकी प्रेरणा अवश्य ही उन्हें सर्वार्थसिद्धिटीका से मिली है, क्योंकि उस पाठ को वे उचित और मौलिक मानते थे, अतः अपने भाष्य में भी उसी रूप में उद्धृत करने में उन्हें कोई हानि प्रतीत नहीं हुई।

इससे सम्बन्धित सारा सन्देह तब दूर हो जाता है, जब हम देखते हैं कि भाष्यकार ने "**द्रव्याणि जीवाश्च**" (५/२) इस सूत्र के भाष्य में **सर्वार्थसिद्धि** का वही सूत्र '**उक्तं हि**' कहकर आद्योपान्त ज्यों का त्यों उद्धृत किया है, यथा—"**उक्तं हि 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु, सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इति।**" (तत्त्वा.भाष्य/५/२)।

अब डॉक्टर साहब के सामने इस तथ्य का अपलाप करने की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि यहाँ **सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ** ही उद्धृत किया गया है। '**उक्तं हि**' वचन का प्रयोग इसका अकाट्य प्रमाण है। इस प्रकार सिद्ध है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना भाष्य के पूर्व हुई है। अत एव पूर्वोक्त समान वाक्य भी सर्वार्थसिद्धि से ही भाष्य में पहुँचे हैं। इस तरह सर्वार्थसिद्धि के तत्त्वार्थाधिगमभाष्य से पूर्वरचित सिद्ध

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हो जाने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि सूत्रकार सर्वार्थसिद्धिकार से पूर्व हुए हैं, अतः सर्वार्थसिद्धिकार से पूर्व हुए सूत्रकार सर्वार्थसिद्धिकार से पश्चात् हुए भाष्यकार से भिन्न व्यक्ति हैं।

५
सर्वार्थसिद्धि में भाष्य की चर्चा नहीं

तीसरी बात यह है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ और भाष्य में जो विसंगतियाँ हैं, न तो उनकी चर्चा सर्वार्थसिद्धि में की गई है, न ही भाष्य में साधु के वस्त्र-पात्रादि-उपभोग का जो समर्थन किया गया है, उसका कोई खंडन सर्वार्थसिद्धि में मिलता है, जबकि **तत्त्वार्थराजवार्तिक** में ये दोनों बातें उपलब्ध होती हैं। इससे सिद्ध होता है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना के समय तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उपस्थित नहीं था। प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् **पं० दलसुखभाई मालवणिया** ने भी यह बात स्वीकार की है। वे लिखते हैं—

"**ऐसा प्रतीत होता है कि जैन आगम के भाष्यादि टीका-ग्रन्थ पूज्यपाद के समक्ष नहीं आये, किन्तु अकलंक ने देखे हैं।** यही कारण है कि उन्होंने **अवर्णवाद** की चर्चा में कुछ नई बातें भी जोड़ी हैं। तत्त्वार्थसूत्र (६/१३) की व्याख्या में आचार्य अकलंक कहते हैं—"**पिण्डाभ्यवहारजीविनः कम्बलदशानिर्हरणाः अलाबूपात्रपरिग्रहाः कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिन इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः।**" (त.रा.वा./६/१३/८/पृ.५२४)। सर्वार्थसिद्धि में तो कवलाहार का निर्देश कर 'आदि' पद दे दिया था, तब यहाँ वस्त्र, पात्र और ज्ञानदर्शन के क्रमिक उपयोग को देकर 'आदि' वचन दिया गया है। स्पष्ट है कि अब वस्त्र और पात्र को लेकर जो विवाद दिगम्बर-श्वेताम्बरों में हुआ है, वह भी निर्देश के योग्य माना गया और निर्युक्ति और भाष्य में ज्ञानदर्शन के क्रमिक उपयोग की जो सिद्धसेन के विरोध में चर्चा है, वह भी उल्लेख के योग्य हो गई। अब दोनों सम्प्रदायों का मतभेद उभर आया है, ऐसा कहा जा सकता है। इसी प्रकार **श्रुतावर्णवाद** के प्रसंग में भी अन्य बातें निर्देशयोग्य हो गईं—"**मांसमत्स्य-भक्षणं मधुसुरापानं वेदनार्दित-मैथुनोपसेवा रात्रिभोजनमित्येवमाद्यनवद्यमित्यनुज्ञानं श्रुतेऽवर्णवादः।**" (त.रा.वा.६/१३/९/पृ.५२४) स्पष्ट है कि ये आक्षेप भाष्य को लेकर ही किये गये हैं अर्थात् श्वेताम्बरों द्वारा मूल की जो व्याख्या की जाने लगी, उससे असम्मति बढ़ती गई।"[१३०]

---

१३०. दलसुख मालवणिया : लेख—'तत्त्वार्थ की दिगम्बरटीकाओं में आगम और निर्ग्रन्थता की चर्चा'/ सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ/पृ. १३७।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

माननीय मालवणिया के उपर्युक्त कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि पूज्यपाद स्वामी के समक्ष तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उपस्थित नहीं था, इसलिए सर्वार्थसिद्धि और भाष्य में जो समान वाक्य मिलते हैं, वे सर्वार्थसिद्धि से ही तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में ग्रहण किये गये हैं।

अब भाष्यमान्य वे सूत्रपाठ प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिन्हें अकलंकदेव ने असंगत और अप्रामाणिक ठहराया है। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने उनका विवरण **सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना** (पृ.४१-४२) में दिया है। उसी के आधार पर उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

"तत्त्वार्थभाष्यकार ने **रत्नशर्करावालुका---पृथुतराः** (३/१) इस सूत्र में **पुथुतराः** पाठ अधिक स्वीकार किया है। श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए **छत्ताइछत्ता** पाठ उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थभाष्यकार ने भी इस पद की व्याख्या करते हुए **छत्रातिच्छत्रसंस्थिताः** पद द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया है। यह पाठ सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ में नहीं है। तत्त्वार्थराज-वार्तिककार भट्ट अकलंक-देव की न केवल इस पर दृष्टि पड़ती है, अपितु वे इसे आड़े हाथों लेते हैं और यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि सूत्र में **पृथुतराः** पाठ असंगत है।"

चौथे अध्याय में "**शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः**" (त.सू./श्वे. ४/९) यह सूत्र आता है। यहाँ **द्वयोर्द्वयोः** पाठ अधिक है। भट्ट अकलंकदेव की सूक्ष्म दृष्टि इस पाठ पर जाती है और वे बतलाते हैं कि यह आर्षविरुद्ध है। इसी प्रकार "**बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च**" (त.सू.५/३७) सूत्र तत्त्वार्थभाष्य-मान्य सूत्रपाठ में "**बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ**" (५/३६) इस रूप में उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थराज-वार्तिककार इसे भी आगमविरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक घोषित कर देते हैं।[१३१]

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के पाँचवें अध्याय में निम्नलिखित तीन सूत्र अधिक हैं— "**अनादिरादिमांश्च**" (४२), "**रूपिष्वादिमान्**" (४३), "**योगोपयोगौ जीवेषु**" (४४)। भाष्यकार ने इन सूत्रों में परिणाम के अनादि और सादि ये दो भेद करके धर्म, अधर्म और आकाश के परिणाम को अनादि तथा पुद्गल एवं जीव के परिणाम को सादि कहा है। अकलंक देव इस पर आपत्ति करते हुए कहते हैं—"**अत्रान्ये धर्माधर्म-कालाकाशेषु अनादिः परिणामः, आदिमान् जीवपुद्गलेषु इति वदन्ति, तदयुक्तम्। कुतः? सर्वद्रव्याणां द्व्यात्मकत्वे सत्त्वम्। अन्यथा नित्याभावप्रसङ्गात्।**"

---

१३१. "बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ" इत्यपरे सूत्रं पठन्ति,--- स पाठो नोपपद्यते। कुतः? आर्षविरोधात्।" तत्त्वार्थराजवार्तिक ५/३६/३-४/ पृ. ५००।

(तत्त्वार्थराजवार्तिक ५/४२/३/पृ.५०३)। अर्थात् कुछ लोग धर्म, अधर्म, आकाश और काल में परिणाम को अनादि कहते हैं तथा जीव और पुद्गल में सादि, किन्तु उनका यह कथन अयुक्त है।

इसी प्रकार "**अवग्रहेहावायधारणाः**" (स.सि./१/१५) इस सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ के **अवाय** के स्थान में भाष्यमान्य सूत्रपाठ में **अपाय** शब्द है। अकलंकदेव ने इन दोनों को उचित ठहराया है।[१३२] "**भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्**" (स.सि./१/२१) में **देव** शब्द पहले है, **नारक** बाद में। किन्तु भाष्यमान्य सूत्रपाठ में **नारक** शब्द पहले है यथा—"**भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्**" (१/२२)। अकलंकदेव ने व्याकरण के नियमानुसार 'देव' शब्द को ही पूर्वप्रयोग के योग्य बतलाया है।[१३३] "**स्पर्शरस-गन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः**" (स.सि./२/२०) इस सूत्रपाठ के **तदर्थाः** के स्थान में भाष्यमान्य सूत्रपाठ में **तेषामर्थाः** पाठ है (२/२१)। अकलंकदेव ने **तदर्थाः** प्रयोग को निर्दोष सिद्ध किया है। (त.रा.वा.२/२०)। सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में "**द्रव्याणि**" (५/२) तथा "**जीवाश्च**" (५/३) ऐसे अलग-अलग सूत्र हैं। भाष्य में इन दोनों का एक ही सूत्र में संग्रह किया गया है—"**द्रव्याणि जीवाश्च**।" (५/२)। तत्त्वार्थराजवार्तिककार ने इसे अयुक्तिमत् बतलाया है और पृथक्-पृथक् सूत्रों द्वारा निर्देश ही उचित माना है, क्योंकि इससे ऐसा लगता है कि केवल जीव ही द्रव्य है, धर्माधर्म आदि नहीं। (त.रा.वा. ५/३/२-३/पृ.४४१-४४२) इसी प्रकार "**अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य**" (स.सि./६/१७) तथा "**स्वभावमार्दवं च**" (स.सि./६/१८) इन दो सूत्रों का भाष्य में एकयोग किया गया है, यथा—"**अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य**" (६/१८)। तत्त्वार्थराजवार्तिककार ने इसे भी अयुक्त माना है, क्योंकि इस अवस्था में **स्वभाव-मार्दव** देवायु का आस्रव सिद्ध नहीं होगा। (त.रा.वा./६/१८) "**मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानाम्**" (स.सि./८/६) इस पाठ के स्थान में भाष्य में केवल "**मत्यादीनाम्**" (८/७) पाठ है। इसे अनुचित ठहराते हुए अकलंकदेव कहते हैं—"इससे अलग-अलग ज्ञान के साथ अलग-अलग आवरण का बोध नहीं होता, सबका आवरण एक ही है, ऐसा बोध होता है।" (त.रा.वा.८/६/२/पृ.५७०)।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (९/५/७/२४) में साधु के लिए जो वस्त्रपात्रादि को धर्म का साधन बतलाया गया है, तत्त्वार्थराजवार्तिककार ने उसकी भी आलोचना की है।

---

१३२. "आह—किमयम् अपाय उत अवाय इति? उभयथा न दोषः।" तत्त्वार्थराजवार्तिक १/१५/१३/पृ.६१।

१३३. "देवशब्दो हि अल्पाजभ्यर्हितश्चेति वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्हः।" तत्त्वार्थराजवार्तिक /१/२१/७/पृ.८०।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

कहा है कि नग्न रहकर मनोविकारजन्य अंगविकृति के द्वारा नाग्न्य को दूषित न होने देना नाग्न्यपरीषहजय है, किन्तु अन्य साधु मनोविकार को रोकने में असमर्थ होने के कारण तज्जन्य अंगविकृति को छिपाने के लिए कौपीन, फलक, चीवर आदि से अंग को ढँक लेते हैं। उससे अंग का ही संवरण होता है, कर्म का नहीं। (त.रा.वा./९/९/१०/पृ.६०९)।[१३४] तथा पात्र में आहार करने से परिग्रहदोष, पात्र के संरक्षण-प्रक्षालन आदि से हिंसादि दोष, पात्र लेकर भिक्षा के लिए भ्रमण करने से दैन्यदोष और याचनादोष आदि अनेक दोष लगते हैं, जिनसे पाप का आस्रव होता है। (त. रा.वा.९/५/१०-११/पृ. ५९४-५९५)।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थराजवार्तिककार भट्ट अकलंकदेव ने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य का अध्ययन किया था। किन्तु सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद स्वामी ने न तो अकलंकदेव की तरह भाष्यमान्य सूत्रपाठों की विसंगतियाँ दर्शायी हैं, न ही भाष्य में जो वस्त्रपात्र को धर्म का साधन बतलाकर नाग्न्यादि परीषहों को असंगत बना दिया है, उसकी आलोचना की है और न भाष्य के अन्त में दिये गये ३२ श्लोक सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत किये हैं। ये इस बात के पक्के सबूत हैं कि सर्वार्थसिद्धिकार को तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के दर्शन नहीं हुए। यदि हुए होते, तो वे उपर्युक्त विसंगतियों और सूत्रविरुद्ध प्रतिपादनों के विरोध में टिप्पणी किये बिना न रहते, जैसा कि उन्होंने श्वेताम्बरागमों के **केवलिभुक्ति** और मांसाशनादि-प्रतिपादक वचनों को केवली और श्रुत का **अवर्णवाद** बतलाकर तीक्ष्ण विरोध किया है।[१३५] **स्त्रीमुक्ति** का भी अलग से निषेध किया है।[१३६] प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० **दलसुख मालवणिया** भी लिखते हैं—"स्पष्ट है कि **श्वेताम्बरों की आगमवाचना में केवली के कवलाहार** का प्रतिपादन है। उसे पूज्यपाद ने **केवली का अवर्णवाद** बताया है और **श्वेताम्बरों की आगमवाचना में मांसाशन** की आपवादिक सम्मति दी गई, उसे भी **श्रुतावर्णवाद** आचार्य ने माना है।"[१३७] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** वलभीवाचना (सन् ४५४-४६६ ई०) के बाद रचा गया है और उसी समय **तत्त्वार्थ** के मूलसूत्रों में परिवर्तन किया गया।

---

१३४. देखिये, मूलपाठ—अध्याय २/प्रकरण ५/शीर्षक ३.८।

१३५. "कवलाभ्यवहारजीविनः केवलिन इत्येवमादिवचनं केवलिनामवर्णवादः। मांसभक्षणाद्यनवद्याभिधानं श्रुतावर्णवादः।" सर्वार्थसिद्धि ६/१३।

१३६. "लिङ्गेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन, त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः? द्रव्यतः पुल्लिङ्गेनैव।" सर्वार्थसिद्धि १०/९/ पृ. ३७४।

१३७. लेख 'तत्त्वार्थ की दिगम्बर टीकाओं में आगम और निर्ग्रन्थता की चर्चा'/ सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ/पृ. १३६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

इन प्रमाणों से जब यह सिद्ध होता है कि सर्वार्थसिद्धिकार के समक्ष तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उपस्थित नहीं था, तब यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि उनमें जो समान वाक्य उपलब्ध होते हैं, वे सर्वार्थासिद्धि से ही भाष्य में लिए गये हैं। अतः सर्वार्थसिद्धि **भाष्य** के पूर्व की रचना है, फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के कर्त्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

६

सर्वार्थसिद्धि को भाष्योत्तरवर्ती सिद्ध करनेवाले हेतु असत्य

माननीय पं० सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य को सर्वार्थसिद्धि से प्राचीन सिद्ध करने के लिए तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं—१.भाष्य की शैली सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा प्राचीन है, २.सर्वार्थसिद्धि में भाष्य की अपेक्षा अर्थ का विस्तार हुआ है अर्थात् विषय-विवेचन अधिक है, ३. सर्वार्थसिद्धि में साम्प्रदायिक अभिनिवेश के तत्त्व दिखाई देते हैं, जब कि भाष्य में उनका अभाव है। (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ.६२-६४)।

माननीय संघवी जी के द्वारा प्रस्तुत ये हेतु असत्य हैं। सत्यता इनके ठीक विपरीत है। प्रमाण नीचे दिये जा रहे हैं—

६.१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की शैली अर्वाचीन

संघवी जी का कथन है कि सर्वार्थसिद्धि में सम्यक्, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि शब्दों का व्याकरणिक विश्लेषण भाष्य की अपेक्षा विस्तार से किया गया है तथा दार्शनिक विवेचन भी अधिक है। अतः सर्वार्थसिद्धि की निरूपणशैली भाष्य से अर्वाचीन है। (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ.६३)। किन्तु मेरे अध्ययन के अनुसार भाष्य में ऐसे अनेक तत्त्व उपलब्ध होते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि उसकी शैली में सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा बहुत नवीनता है। यथा—

१.तत्त्वार्थसूत्र में जो '**मोक्षमार्गस्य नेतारं**' इत्यादि मंगलाचरण है, वह सूत्रकारकृत है। (देखिए, डॉ० दरबारीलाल कोठियाकृत जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्रपरिशीलन/पृ. ३१)। सर्वार्थसिद्धिटीका में मंगलाचरनण नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में '**कृत्वा त्रिकरणशुद्धं**' इत्यादि दो श्लोकों (२१-२२) का मंगलाचरण है। इतना ही नहीं, उसमें मंगलाचरण के पूर्व बीस श्लोंकों में अन्य विषयों का भी वर्णन किया गया है, जैसे उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों की प्रवृत्तियों का निरूपण, अर्हन्तों की पूजनीयता और तीर्थंकरनामकर्म के फल का वर्णन, भगवान् महावीर की जाति, कुल तथा शारीरिक एवं बौद्धिक गुणों का कथन, उनके वैराग्य, दीक्षा, केवलज्ञान की प्राप्ति, तीर्थोपदेश

तथा उनके द्वारा उपदिष्ट श्रुत के भेदों की चर्चा की गई है।[१३८] इसे मंगलाचरण की भूमिका समझना चाहिए। और मंगलाचरण के बाद भी सूत्र की व्याख्या आरंभ नहीं होती, अपितु पुनः अन्य विषय का वर्णन शुरू हो जाता है। आगे अनेक निदर्शनाओं के द्वारा जिनवचन को ग्रहण करना कितना कठिन है, इस बात का काव्यात्मक विवेचन किया गया है।[१३९] तत्पश्चात् वक्ता के कर्त्तव्य और उसके सुफल पर प्रकाश डाला गया है। उसके बाद कहीं प्रथम सूत्र की प्रस्तावना का नम्बर आया है। सर्वार्थसिद्धि में सूत्रकारकृत मंगलाचरण के बाद ही प्रथमसूत्र की प्रस्तावना आरंभ हो जाती है, जो अतिसंक्षेप में गद्य में निबद्ध है। **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में यह इकतीस श्लोकों में निबद्ध विस्तृत पद्यात्मक प्रस्तावना परम्परा से एकदम अलग है, जो नवीन प्रयोग है।** यह इस बात का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है कि भाष्य की शैली सर्वार्थसिद्धि की शैली से अर्वाचीन है।

२. संस्कृत के किसी भी सूत्रग्रन्थ एवं भाष्य के अंत में श्लोकबद्ध विस्तृत उपसंहार उपलब्ध नहीं होता। **पातंजलयोगसूत्र** और उसका **व्यासभाष्य** इसके उदाहरण हैं। सर्वार्थसिद्धि के अंत में तीन पद्यों में यह कहा गया है कि "तत्त्वार्थसूत्र की इस वृत्ति का सर्वार्थसिद्धि नाम रखा है। यह जिनेन्द्रदेव के शासनरूपी अमृत का सार है। जो इसे भक्तिपूर्वक पढ़ते-सुनते हैं, उन्हें संसारसुख और मोक्षसुख दोनों की प्राप्ति होती है। अंत में वृत्तिकार ने तत्त्वार्थ का उपदेश देनेवाले वीरभगवान् को प्रणाम किया है।' **इसके विपरीत तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में प्रस्तावना के समान ही बत्तीस श्लोकों में विस्तारपूर्ण उपसंहार निबद्ध किया गया है,** जिसमें तत्त्वपरिज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति किस क्रम से होती है, मुक्तात्मा ऊर्ध्वगमन क्यों करता है, प्राग्भारावसुधा का स्वरूप कैसा है, सिद्ध उससे ऊपर क्यों नहीं जा सकते, वे पुनः संसार में क्यों नहीं आते, सुख शब्द का प्रयोग किस-किस पदार्थ के लिए होता है, मुक्त जीवों के सुख का स्वरूप क्या है, इत्यादि विषय का वर्णन है।[१४०] **यह वर्णित विषय की संक्षिप्त पुनरावृत्ति एवं नवीन विषय का विस्तृत निरूपण भी परम्परा से हटकर नवीन प्रयोग है।** यह भी इस बात का प्रमाण है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य शैली की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि से बहुत आगे है।

३. संस्कृत के किसी भी सूत्रग्रन्थ या भाष्यग्रन्थ के अंत में कर्त्ता ने अपना परिचय नहीं दिया, पातंजलयोगसूत्र और उसके भाष्य से यह स्पष्ट है। सर्वार्थसिद्धिकार ने भी अपना परिचय नहीं दिया। किन्तु तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के कर्त्ता ने भाष्य के अंत

---

१३८. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य / सम्बन्धकारिका १-२० / पृ. १-९।
१३९. वही / २३-३१ / पृ. ११-१४।
१४०. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य / उपसंहारकारिका १-३२/ पृ. ४६४-४६६।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में अपना विस्तारपूर्वक परिचय दिया है। किसके शिष्य थे, किसके प्रशिष्य थे, किस गोत्र में, किस पिता और माता से किस शाखा में किस जगह उत्पन्न हुए थे और गुरुपरम्परा से चले आते हुए अर्हद्वचन को अच्छी तरह धारण कर संसार के दुःखी प्राणियों पर दया करके किस प्रकार उन उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र को स्पष्ट किया (अर्थ प्रकट किया), इत्यादि विषय का पूर्ण विवरण दिया है।[१४१] **यह विस्तृत आत्मपरिचय सूत्रग्रन्थ और भाष्यग्रन्थ में पिरोया गया सर्वथा नवीन विषय है,** जिससे प्रमाणित होता है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की शैली सर्वार्थसिद्धि की शैली से कई कदम आगे है।

४. किसी भी भाष्यग्रन्थ में अध्याय के अंत में श्लोकबद्ध उपसंहार नहीं मिलता। सर्वार्थसिद्धि में भी नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के प्रथम अध्याय में वर्णित विषय का उसी अध्याय के भाष्य के अन्त में **श्लोकबद्ध उपसंहार** किया गया है। सूत्र ६/९ की व्याख्या में संरभ आदि का लक्षण भी श्लोक में निबद्ध किया गया है। **यह भी निरूपणशैली की विकासयात्रा में रखा गया एक नया कदम है।**

५. **सर्वार्थसिद्धि** के पद्यों में **आलंकारिक प्रयोग** अल्प हुए हैं, जबकि भाष्य में इनकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है। सर्वार्थसिद्धि में केवल दशम अध्याय के अन्त में पठित निम्न पद्य में **अतिशयोक्ति अलंकार** प्रयुक्त हुआ है—

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः
शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या।
हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तै-
र्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम्॥ २॥

अनुवाद—"समस्त तत्वों को जानकर जो इस तत्त्वार्थवृत्ति को धर्मभक्ति से सुनते हैं और पढ़ते हैं, समझ लीजिए कि मोक्षसुखरूपी अमृत उनके हाथ में ही आ गया है, फिर चक्रवर्ती और देवेन्द्र के सुखों की तो बात ही क्या?"

किन्तु **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** (पृ.११) की निम्न सम्बन्धकारिकाओं में तो **निदर्शना अलंकारों** की झड़ी लगा दी गई है—

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य।
कः शक्तः प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्त्तुम्॥ २३॥

शिरसा गिरिं बिभत्सेदुच्चिक्षिप्सेच्च स क्षितिं दोर्भ्याम्।
प्रतितीर्षेच्च समुद्रं मित्सेच्च पुनः कुशाग्रेण॥ २४॥

---

१४१. वही/प्रशस्ति-श्लोक १-६/पृ. ४७१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयिषेत्।
गत्यानिलं जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च॥ २५॥

खद्योतकप्रभाभिः सोऽभिबुभूषेच्च भास्करं मोहात्।
योऽतिमहाग्रन्थार्थं जिनवचनं संजिघृक्षेच्च॥ २६॥

अनुवाद—"जिनवचनरूपी महासागर का विषय अतिमहान् है। उनका निरूपण करनेवाले ग्रन्थों और उनके भाष्यों का पार पाना कठिन है। अतः उनका संग्रह कौन कर सकता है? जो उनका संग्रह करने की कोशिश करता है, वह मानो शिर से पर्वत को चूर-चूर करना चाहता है, भुजाओं से पृथ्वी को उठाकर फेंकना चाहता है, बाहुओं से समुद्र पार करना चाहता है, तिनके से समुद्र की थाह लगाना चाहता है, चन्द्रमा को छूना चाहता है, मेरु को हथेली से हिलाना चाहता है, दौड़कर वायु से आगे निकलना चाहता है, अन्तिम समुद्र (स्वयम्भूरमण) को पीना चाहता है और जुगुनुओं के प्रकाश से सूर्य के प्रकाश को मन्द करना चाहता है।

मोक्षमार्ग के निरूपण में **अलंकारों का यह मनोहारी प्रचुर प्रयोग शैली के अतिविकसित रूप की ओर संकेत करता है।** इतना ही नहीं, **भाष्य में जिस गद्य का विन्यास किया गया है, वह बाणभट्ट की 'कादम्बरी' के स्तर को छूनेवाला उच्चकोटि का साहित्यिक गद्य है,** जिस का प्रणयन पूर्ण विकसित गद्यकाव्य का गहन अनुशीलन किये बिना संभव नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में प्रयुक्त गद्य उसकी तुलना में बहुत पिछड़ा प्रतीत होता है। दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यहाँ दोनों ग्रन्थों से **आस्रवानुप्रेक्षा** के निरूपण में निबद्ध गद्य के नमूने प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

सर्वार्थसिद्धि के गद्य का स्वरूप

"आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषाया व्रतादयः। तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शनादीनि वनगज-वायस-पन्नग-पतङ्ग-हरिणादीन् व्यसनार्णवमवगाहयन्ति तथा कषायादयोऽपीह वध-बन्धापयशःपरिक्लेशादीन् जनयन्ति। अमुत्र च नानागतिषु बहुविधदुःखप्रज्वलितासु परिभ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा।" (९/७/८०५/पृ. ३२७)।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के गद्य का स्वरूप

"आस्रवानिहामुत्रापाययुक्तान्महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णानकुशलागमकुशलनिर्गमद्वारभूतानिन्द्रियादीनवद्यतश्चिन्तयेत्। तद्यथा—स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्तचित्तः सिद्धोऽनेकविद्याबलसम्पन्नोऽप्याकाशगोऽष्टाङ्गनिमित्तपारगो गार्ग्यः सात्यकिर्निधनमाजगाम। तथा प्रभूतयवसोदक-

प्रमाथावगाहादिगुणसम्पन्नवनविचारिणश्च मदोत्कटा बलवन्तोऽपि हस्तिनो हस्तिबन्धकीषु स्पर्शनेन्द्रियसक्तचित्ता ग्रहणमुपगच्छन्ति। ततो बन्धवधदमनवाहनाङ्कुशपार्ष्णिप्रतोदाभिघातादिजनितानि तीव्राणि दुःखान्यनुभवन्ति। नित्येमेव स्वयूथस्य स्वच्छन्दप्रचारसुखस्य वनवासस्यानुस्मरन्ति। तथा मैथुनसुखप्रसङ्गादाहितगर्भाश्वतरी प्रसवकाले प्रसवितुमशक्नुवन्ती तीव्रदुःखाभिहताऽवशा मरणमभ्युपैति। एवं सर्वे एव स्पर्शनेन्द्रियप्रसक्ता इहामुत्र च विनिपातमृच्छन्तीति। तथा जिह्वेन्द्रियप्रसक्ता मृतहस्तिशरीरस्थस्रोतोवेगोढवायसवत् हैमनघृतकुम्भप्रविष्टमूषिकवत् गोष्ठप्रसक्त-ह्रदवासिकूर्मवत् मांसपेशीलुब्धश्येनवत् वडिशामिषगृद्धमत्स्यवच्चेति। तथा घ्राणेन्द्रियप्रसक्ता ओषधिगन्धलुब्धपन्नगवत् पललगन्धानुसारिमूषिकवच्चेति। तथा चक्षुरिन्द्रियप्रसक्ताः स्त्रीदर्शन-प्रसङ्गादर्जुनकचोरवत् दीपालोकलोलपतङ्गवद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत्। तथा श्रोत्रेन्द्रियप्रसक्तास्तित्तिर-कपोतकपिञ्जलवत् गीतसङ्गीतध्वनिलोलमृगवद्विनिपातमृच्छन्तीति चिन्तयेत्। एवं चिन्तयन्नास्रवनिरोधाय घटत इति आस्रवानुप्रेक्षा। (९/७/पृ. ४००)

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि सर्वार्थसिद्धि में जो बात चार पंक्तियों में कही गई है उसका विस्तार भाष्यकार ने चौदह पंक्तियों में किया है। इन्द्रियादि के साथ **अकुशलागम-कुशलनिर्गमद्वारभूत** यह नया विशेषण जोड़ा है। स्पर्शनेन्द्रियासक्ति के दुष्परिणाम का दिग्दर्शन गार्ग्य, सात्यकि के पौराणिक दृष्टान्त द्वारा किया है। सर्वार्थसिद्धिकार ने जहाँ केवल इतना कहा है कि स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ, वनगज, कौआ, सर्प, पतंग और हिरण आदि को दुःख-समुद्र में डुबाती हैं, वहाँ **भाष्यकार ने इन प्राणियों में से प्रत्येक के इन्द्रियासक्तिजन्य दुःख का वर्णन अत्यन्त हृदयस्पर्शी विशेषणों एवं उपमाओं का प्रयोग करते हुए बड़े ही प्रभावोत्पादक ढँग से किया है।** इससे स्पष्ट हो जाता है कि भाष्य में प्रयुक्त गद्य सर्वार्थसिद्धि के गद्य की अपेक्षा साहित्यिक दृष्टि से पर्याप्त विकसित है।

६. सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य में **पर्यायशब्दों का बहुशः वर्णन** किया गया है। सर्वार्थसिद्धि में केवल निम्नलिखित वाक्य में अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण को एकार्थक बतलाया गया है—"**अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम्।**" (१/१४/१८६/पृ. ७७) किन्तु भाष्य में इनके अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—

क — **निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरोपदेश इत्यनर्थान्तरम्।** (१/३)।

ख — **अधिगमः अभिगमः आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम्।** (१/३)।

ग — **अवग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम्।** (१/१५)।

घ — **ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम्।** (१/१५)।

ङ — **अपायोऽपगमः अपनोदः अपव्याधः अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्तमित्यनर्थान्तरम्।** (१/१५)।

च — **धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम्।** (१/१५)

छ — **इच्छा प्रार्थना कामोऽभिलाषः काङ्क्षा गाद्धर्यं मूर्च्छेत्यनर्थान्तरम्।** (७/१२)।

पर्यायशब्दों के द्वारा अर्थ का स्पष्टीकरण भाष्यकार की विशिष्ट शैली का परिचायक है। यह शैलीगत नवीनता का लक्षण है।

७. सर्वार्थसिद्धि में कहीं भी **नयवाद** शब्द का प्रयोग नहीं है, न ही नयों के द्वारा (सूत्र १०/९ को छोड़कर) कथनविशेष के औचित्य का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु भाष्य में **नयवाद** शब्द का प्रयोग करते हुए उसके द्वारा कई जगह विभिन्न कथनों में समन्वय स्थापित किया गया है।[१४२] **यह शैली के विकास का द्योतक है।**

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि को तत्त्वार्थाधिगमभाष्य से अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए जो यह हेतु बतलाया गया है कि भाष्य की शैली सर्वार्थसिद्धि की शैली से प्राचीन है, वह असत्य है।

६.२. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में अर्थविस्तार

पं० सुखलाल संघवी जी का दूसरा तर्क यह है कि "अर्थ की दृष्टि से भी भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि अर्वाचीन प्रतीत होती है। जो एक बात भाष्य में होती है, उसको विस्तृत करके, उस पर अधिक चर्चा करके , सर्वार्थसिद्धि में निरूपण हुआ है। व्याकरणशास्त्र और जैनेतर दर्शनों की जितनी चर्चा सर्वार्थसिद्धि में है, उतनी भाष्य में नहीं है। जैन परिभाषा का, संक्षिप्त होते हुए भी, जो स्थिर विशदीकरण और वक्तव्य का जो विश्लेषण सर्वार्थसिद्धि में है, वह भाष्य में कम से कम है। भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की तार्किकता बढ़ जाती है और भाष्य में जो नहीं है, ऐसे विज्ञानवादी बौद्ध आदि के मन्तव्य उसमें जोड़े जाते हैं और इतर दर्शनों का खण्डन जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं।" (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ. ६३-६४)।

इस विषय में मेरा निवेदन है कि भाष्य में अन्य प्रकार से सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा अर्थ का विस्तार उपलब्ध होता है। उसमें विशेषणों, अलंकारों और उदाहरणों को जोड़कर,

---

१४२. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १/६,१२,३५,२/४३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

पर्याय शब्दों का समूह उपस्थित कर, नयवाद के द्वारा समन्वय स्थापित कर, दृष्टान्तों के द्वारा भाव को स्पष्ट कर, नय आदि के नये भेद वर्णित कर, अर्थ को विस्तार प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे नये विषयों और अवधारणाओं को भाष्य में सम्मिलित किया गया है, जो सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ—

१. पूर्व में आस्रवानुप्रेक्षा के दो अंश उद्धृत किये गये हैं। उनमें हम पाते हैं कि "**आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषाया व्रतादयः**" सर्वार्थसिद्धि (९/७/८०५/पृ. ३२७) के इस वाक्य में भाष्यकार ने '**अकुशलागम-कुशलनिर्गमद्वारभूतान्**' (९/७/पृ. ४००) यह विशेषण जोड़कर तथा विभक्तियाँ बदलकर "**आस्रवानिहामुत्रापाययुक्तान् महानदी-स्रोतोवेगतीक्ष्णानकुशलागमकुशलनिर्गम-द्वारभूतान् इन्द्रियादीनवद्यतश्चिन्तयेत्**" इस रूप में वाक्य का विस्तार किया है। तथा "**तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शनादीनि वनगज-वायस-पन्नग-पतङ्ग-हरिणादीन् व्यसनार्णव-मवगाहयन्ति**" सर्वार्थसिद्धि के इस वाक्य को उक्त प्राणियों की स्वाभाविक विशेषताओं और इन्द्रियसुख के लिए की जानेवाली क्रियाओं का तथा तज्जन्य दुःखों का सोदाहरण वर्णन कर ग्यारह वाक्यों में विस्तीर्ण कर दिया है।

इसी प्रकार **सर्वार्थसिद्धि** में संसारानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए सम्बन्धपरिवर्तन के निम्नलिखित उदाहरण दिये गये हैं—"**पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति। माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति। स्वामी भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति।---स्वयमात्मनः पुत्रो भवति।---**" (९/७/८०१/पृ. ३२५)। **भाष्यकार** ने इसमें निम्नलिखित उदाहरण और जोड़कर अर्थविस्तार कर दिया है—"**शत्रुर्भूत्वा मित्रं भवति, मित्रं भूत्वा शत्रुर्भवति। पुमान् भूत्वा स्त्री भवति, नपुंसकं च। स्त्री भूत्वा पुमान्नपुंसकं च भवति। नपुंसकं भूत्वा स्त्री पुमांश्च भवति।**' (९/७/पृ. ३९४)। और इसके बाद निम्नलिखित निष्कर्ष भी जोड़ा है—'**एवं चतुरशीतियोनिप्रमुख-शतसहस्रेषु रागद्वेषमोहाभिभूतैर्जन्तुभिरनिवृत्त-विषयतृष्णैरन्योन्य-भक्षणाभिघात-वधबन्धाभियोगा-क्रोशादिजनितानि तीव्राणि दुःखानि प्राप्यन्ते। अहो द्वन्द्वारामः कष्टस्वभावः संसार इति चिन्तयेत्।**' (९/७/पृ. ३९४)। यह निष्कर्ष जोड़कर अर्थ को और विस्तार प्रदान कर दिया है। अंत में सर्वार्थसिद्धि (९/७/८०१/पृ.३२५) के ये वाक्य कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिये हैं—"**एवं ह्यस्य चिन्तयतः संसारभयोद्विग्नस्य निर्वेदो भवति। निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय घटत इति संसारानुप्रेक्षा।**' (तत्त्वा. भाष्य/९/७/पृ. ३९४)।

२. सर्वार्थसिद्धि में **परत्व** और **अपरत्व** के दो भेद बतलाये गये हैं—**क्षेत्रकृत**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और **कालकृत**।[१४३] भाष्यकार ने इनमें **प्रशंसाकृत** भेद भी जोड़ दिया है,[१४४] जो अर्थविकास का उदाहरण है।

३. सर्वार्थसिद्धि में **सम्यग्दर्शनी** नाम का कोई भेद नहीं है। भाष्य में **सम्यग्दर्शनी** और **सम्यग्दृष्टि** ये दो भेद मिलते हैं।[१४५] यह अर्थविकास का स्पष्ट प्रमाण है।

४. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में अशुचित्वानुप्रेक्षा के अन्तर्गत **शरीरविज्ञान** का जो **सूक्ष्म विश्लेषण** किया गया है, वह सर्वार्थसिद्धि में ढूँढ़े नहीं मिलता, जबकि पूज्यपाद स्वामी ने चिकित्साशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखा था। कवलाहार से किस प्रकार रक्त, मांस, मेदस्, अस्थियाँ, मज्जा, शुक्र आदि निर्मित होते हैं, इसका भाष्यकार ने सूक्ष्म वर्णन किया है। गर्भाधान किस प्रकार होता है, और उसके होने पर किस-किस अवस्था को प्राप्त होकर शरीर विकसित होता है, इसका भी **वैज्ञानिक निरूपण** भाष्यकार की लेखनी से हुआ है। (९/७/पृ. ३९७-३९८)। भाष्य का यह अर्थविस्तार सर्वार्थसिद्धि को बहुत पीछे छोड़ देता है।

५. भाष्य में **नैगमनय** के दो भेद किये गये हैं—**देशपरिक्षेपी** और **सर्वपरिक्षेपी**। (१/३५/पृ.६१)। सत् के चार भेद बतलाये गये हैं—**द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, उत्पन्नास्तिक** और **पर्यायास्तिक**। (५/३१/पृ. २८२) **पूर्वभावप्रज्ञापनीयनय** के दो भेद वर्णित हैं—**अनन्तरपश्चात्कृतिक** और **परम्परापश्चात्कृतिक**। (१०/७/पृ. ४४९) इन भेदों का सर्वार्थसिद्धि में नामोनिशाँ भी नहीं है। इससे सिद्ध है कि सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य में अर्थ का विकास हुआ है।

६. भाष्य में **अगारी** और **अनगारी** की व्याख्या **श्रावक** और **श्रमण** शब्दों से की गई है (७/१४) जो सर्वार्थसिद्धि में नहीं है। **निर्ग्रन्थी, प्रवर्तिनी** (तत्त्वा.भाष्य/ ९/२४) और **श्रमणी** शब्दों का भी प्रयोग हुआ है-"**श्रमण्यपगतवेदः--- न संह्रियन्ते।**" (तत्त्वा. भाष्य/१०/७/पृ. ४४६)। इनका भी सर्वार्थसिद्धि में अभाव है। **अधिगम** को '**सम्यग्व्यायाम**' (१/७/पृ. २६) कहा गया है, जो बौद्धदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। यह भी सर्वार्थसिद्धि में नहीं मिलता। अतः ये अर्थविकास के उदाहरण हैं।

७. सर्वार्थसिद्धि में **निश्चय** और **व्यवहार** नयों के द्वारा भी प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु भाष्य में किया गया है—"**एवमेतद् व्यवहारतः तथा मनुष्यादिस्थितिद्रव्य-**

---

१४३. "परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः।" सर्वार्थसिद्धि ५/२२/५६९/ पृ. २२३।

१४४. "परत्वापरत्वे त्रिविधे-प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य ५/२२/ पृ. २६७।

१४५. "तस्मान्न केवली सम्यग्दर्शनी, सम्यग्दृष्टिस्तु।" वही १/८/पृ. ३१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

मधिकृत्य दर्शितम्। निश्चयतस्तु प्रतिसमयमुत्पादादिमत्।' (५/२९/पृ.२७८)। तथा—

समुदायव्यक्त्याकृतिसत्तासंज्ञादि निश्चयापेक्षम्।
लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात्॥ ३॥ (१/३५)

इस निश्चय-व्यवहाराश्रित प्रतिपादन से भी भाष्य में अर्थविकास सूचित होता है।

८. भवनवासी देवों की **कुमार** संज्ञा क्यों है, इसका स्पष्टीकरण सर्वार्थसिद्धि में **''वेषभूषायुधयानवाहनक्रीडनादिकुमारवदेषामाभासत इति भवनवासिषु कुमार-व्यपदेशो रूढः''** (४/१०), इस संक्षिप्त वाक्य में किया गया है। किन्तु भाष्य में कुमारों की वेषभूषा, आभूषण, रूप, गति, आलाप, शृंगारिकता, क्रीडा आदि का मनोहारी चित्रण किया गया है। यथा—**''कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्बणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते।''** (४/११/ पृ.१९८)। इतना ही नहीं, दस प्रकार के भवनवासियों में से प्रत्येक के विशिष्ट रूपरंग, आकृति, मुकुट और चिह्न आदि का भी वर्णन किया गया है, जो सर्वार्थसिद्धि में अनुपलब्ध है। यह अर्थविस्तार का स्पष्ट प्रमाण है।

इसी प्रकार **''व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुष---''** (४/११), इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि-टीका में **''तेषां व्यन्तराणामष्टौ विकल्पाः किन्नरादयो वेदितव्याः''** केवल यह कहा गया है, उन आठ विकल्पों (भेदों) के नाम नहीं बतलाये गये हैं, जब कि भाष्य में उन आठों के नाम तो बतलाये ही गये हैं, आठों में से प्रत्येक के क्रमशः १०+१०+१०+१२+१३+७+९+१५ उपभेद भी वर्णित किये गये हैं और उनके अलग-अलग नाम भी गिनाये गये हैं। अर्थात् व्यन्तरों के ८६ नामों का उल्लेख भाष्य में किया गया है। साथ ही उनकी मुखाकृति, रूप-रंग, आभूषण और ध्वजाओं का भी वर्णन है। यह सब सर्वार्थसिद्धि में नहीं है। अतः यह भाष्य में हुए अर्थविस्तार का पुख्ता सबूत है।

९. **''कृमिपिपीलिका---''** (२/२४) सूत्र के भाष्य में द्वीन्द्रियादि जीवों के नामों का वर्णन सर्वार्थसिद्धि को पीछे छोड़ देता है। **''जराय्वण्डपोतजानां गर्भः''** (२/३४) सूत्र के भाष्य में जरायुज आदि जीवों के नामों का जो वर्णन किया गया है, वह भी सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध नहीं है।

१०. **''तत्कृतः कालविभागः''** (४/१४) की सर्वार्थसिद्धिटीका में **''कालो द्विविधो व्यावहारिको मुख्यश्च। व्यावहारिकः कालविभागस्तत्कृतः समयावलिकादिः''** केवल यह कहा गया है, जबकि भाष्य में उसका अनेक प्रकार से विभाजन किया

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

गया है। जैसे—"**अणुभागाश्चारा अंशाः कला लवा नालिका मुहूर्ता दिवसा रात्रयः पक्षा मासा ऋतवोऽयनानि संवत्सरा युगमिति लौकिकसमो विभागः। पुनरन्यो विकल्पः प्रत्युत्पन्नोऽतीतोऽनागत इति त्रिविधः। पुनस्त्रिविधः परिभाष्यते संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्त इति।**" (४/१५/पृ. २०९)। इससे तो ऐसा लगता है जैसे सर्वार्थसिद्धि का उपर्युक्त वाक्य सूत्र हो और भाष्यकार द्वारा दिया गया विवरण उसका भाष्य हो।

११. "**गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः**" (४/२२) सूत्र की सर्वार्थसिद्धिटीका में केवल 'गति' आदि की दृष्टि से ही ऊपर के विमानवासियों को नीचे-नीचे के विमानवासियों से हीन बतलाया गया है, किन्तु भाष्य (पृ.२२५) में उच्छ्वास, आहार, वेदना, उपपात और अनुभाव की अपेक्षा भी हीन प्रतिपादित किया गया है। यह भी कहा गया है कि सभी इन्द्र और ग्रैवेयकादि के देव भगवान् के जन्म, अभिषेक, निष्क्रमण, ज्ञानोत्पत्ति, महासमवसरण और निर्वाण के समय वहाँ जाते हैं और भगवान् की विभिन्न प्रकार से पूजा करते हैं। यह वर्णन सर्वार्थसिद्धि में नहीं है। यह भी भाष्य में हुए अर्थविस्तार का प्रमाण है।

१२. "**दर्शनचारित्रमोहनीय**---" (८/९) सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के सम्यग्दर्शनादिघातक स्वरूप का वर्णन नहीं है, न ही क्रोधादिकषायों के तीव्र, मध्य, विमध्य एवं मन्द स्वरूप का द्योतन करनेवाली पर्वतराजि, भूराजि आदि उपमाओं का सोदाहरण विवेचन है, किन्तु तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (८/१०/पृ. ३५९-३६०) में है। क्रोध, मान, माया और लोभ के जो नामान्तर भाष्य में बतलाये गये हैं, वे भी सर्वार्थसिद्धि में नहीं है। यह अर्थविस्तार का उदाहरण है।

१३. "**गतिजातिशरीर**---" (८/१२) इत्यादि सूत्र के भाष्य (पृ. ३६७) में पर्याप्तियाँ क्रमशः किस प्रकार पूर्ण होती हैं, इसका सुन्दर दृष्टान्तों द्वारा निरूपण किया गया है, जो सर्वार्थसिद्धि में अनुपलब्ध है। इसमें (पृ. ३६६ पर) पृथिवी आदि के **शुद्धपृथिवी, शर्करा, बालुका** आदि भेदों का भी वर्णन है, जो सर्वार्थसिद्धि में नहीं है।

१४. "**उच्चैर्नीचैश्च**" (८/१३) के भाष्य में नीचगोत्रवाली जातियों के नाम बतलाये गये हैं, जैसे **चाण्डाल, नट, व्याध, धीवर, दास्य** आदि। सर्वार्थसिद्धि में इनका वर्णन नहीं है।

१५. "**उत्तमक्षमामार्दव**---" (९/६) इत्यादि सूत्र के भाष्य (पृ. ३८४-३८५) में न केवल क्षमा आदि के पर्यायवाचियों का वर्णन है, अपितु क्षमा धारण करने के लिए क्या-क्या चिन्तन करना चाहिए इसका भी विस्तार से विवेचन किया गया है। सर्वार्थसिद्धि में इसका अभाव है। **संयम के सत्रह भेद** (पृ. ३९०), **प्रकीर्णक तप के अनेक भेद** (पृ. ३९१) और **आचार्य के पाँच भेद** (पृ. ३९१-३९२) भी भाष्य में बतलाये गये हैं। ये भी सर्वार्थसिद्धि में नहीं हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

१६. "**क्षेत्रकालगति---**" (१० / ७) इस सूत्र के भाष्य में "**तत्र प्रमत्तसंयता: संयतासंयताश्च ---शेषा नया उभयभावं प्रज्ञापयन्तीति**" (पृ.४४६) यह अंश सर्वार्थ-सिद्धि की अपेक्षा अधिक है। **गतिसिद्ध** की अपेक्षा **पूर्वभावप्रज्ञापननय** (पृ.४४८) के तीन भेद किये गये हैं। सर्वार्थसिद्धि में **अल्पबहुत्व** का वर्णन केवल क्षेत्र की अपेक्षा किया गया है और आगे कहा गया है '**एवं कालादिविभागेऽपि यथागममल्पबहुत्वं वेदितव्यम्**' (१०/९/पृ.३७५)। किन्तु भाष्य (१०/७) में काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, **प्रत्येकबुद्धबोधित**, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर आदि की अपेक्षा विस्तार से वर्णन किया गया है। (पृ. ४४५-४५९) इसके अतिरिक्त आदि के दो शुक्लध्यानों से प्राप्त होनेवाली **आमर्शौषधि, सर्वौषधि, शाप, अनुग्रह** आदि ऋद्धियों का भी विस्तार से निरूपण है। (पृ. ४५९-४६२)।

१७. सर्वार्थसिद्धि में वस्त्रपात्रादि देकर साधु का उपकार करने की आज्ञा नहीं दी गई है, जबकि भाष्य में दी गई है। (९/२४) सर्वार्थसिद्धि में **तीर्थकरी** की अवधारणा भी नहीं है, किन्तु भाष्य में है (१०/७/पृ. ४४९)। ये सब सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य में अर्थविस्तार होने के उदाहरण हैं।

१८. भाष्यकार ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद बतलाते हुए कहा है कि कुछ लोग **नयवाद** की अपेक्षा **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान** और **आगम**, ये चार प्रमाण भी मानते हैं।[१४६] उन्होंने इन सब को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में गर्भित बतलाया है, क्योंकि इन सब में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष निमित्त होता है। किन्तु मिथ्यादर्शन से संयुक्त होने के कारण उन्होंने इन्हें **अप्रमाण** भी माना है[१४७] और आगे चलकर **शब्दनय** की अपेक्षा इन चारों को **प्रमाण** भी सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि सब जीव ज्ञानस्वभाव हैं, अत: शब्दनय की दृष्टि में कोई भी जीव मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी नहीं है। इसलिए विपरीत ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध न होने से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान

---

१४६. "तत्र प्रमाणं द्विविधं परोक्षं प्रत्यक्षं च वक्ष्यते। चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण।" तत्त्वार्थाधि-गमभाष्य/१/६।

१४७.क—"अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावानपि च प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेत-दिति? अत्रोच्यते सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्। किं चान्यत् अप्रमाणान्येव वा। कुत:? मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतोपदेशाच्च। मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानमेवेति वक्ष्यते। नयवादान्तरेण तु यथा मतिश्रुतविकल्पजानि भवन्ति तथा परस्ताद् वक्ष्याम:।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/१२।

ख—"यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनै: प्रमाणैरेकोऽर्थ: प्रमीयते स्वविषयनियमात् न च ता विप्रतिपत्तयो भवन्ति तद्वन्नयवादा इति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/३५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

और आप्तवचन प्रमाण सिद्ध होते हैं।[१४८] **इस प्रकार जैनदर्शन में मान्य मतिज्ञानादि प्रमाणों के साथ जैनेतर दर्शनों में मान्य प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों का भाष्यकार ने नयवाद के द्वारा समन्वय करने का प्रयत्न किया है। यह सर्वथा नवीन प्रयास है, जो भाष्यकार के पहले किसी ने नहीं किया।** पं० सुखलाल जी संघवी इसका श्रेय उमास्वाति को ही देते हैं। वे **'जैनों की प्रमाणमीमांसा-पद्धति का विकासक्रम'** नामक लेख में लिखते हैं—

"आगम में मूल ज्ञान के मति, श्रुत आदि ऐसे पाँच विभाग हैं। उसी प्रकार प्रत्यक्ष, परोक्ष ऐसे दो, और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ऐसे चार भी हैं। उनमें कोई विरोध है कि नहीं? और यदि नहीं, तो इसका समन्वय किस प्रकार? यह प्रश्न उठने लगा। इसका उत्तर देने का प्रथम प्रयास वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में हुआ जान पड़ता है।"[१४९]

यह प्रयास सर्वार्थसिद्धि में नहीं किया गया, भाष्य में किया गया है। यह सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य में अर्थ-विकास होने का ऐसा प्रमाण है, जिसे पं० सुखलालजी ने स्वयं स्वीकार किया है और उसे **जैनों की प्रमाणमीमांसा-पद्धति का विकासक्रम** नामक उपर्युक्त लेख में प्रकाशित किया है। अतः उनके ही शब्दों से भाष्य की अर्वाचीनता और सर्वार्थसिद्धि की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। अतः सर्वार्थसिद्धि को भाष्योत्तरवर्ती सिद्ध करने के लिए संघवी जी द्वारा बतलाया गया अर्थविस्तार का हेतु असत्य है।

डॉ० सागरमल जी ने पृष्ठसंख्या या पंक्तिसंख्या की न्यूनाधिकता के आधार पर अर्थ का विस्तार या अविस्तार माना है। वे लिखते हैं-"सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान और मार्गणास्थान का अत्यधिक विकसित और विस्तृत विवरण उपलब्ध है। सर्वार्थसिद्धि के प्रथम अध्याय के ८वें सूत्र की व्याख्या में लगभग सत्तर पृष्ठों में गुणस्थान और मार्गणास्थान की चर्चा की गई है, जबकि तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्णतः अभाव है। उसमें प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या केवल दो पृष्ठों में समाप्त हो गई है। मार्गणा के रूप में मात्र गति, इन्द्रिय, काय, योग, कषाय आदि का नामोल्लेख

---

१४८. "शब्दनयस्तु द्वे एव श्रुतज्ञानकेवलज्ञाने श्रयते। अत्राह कस्मान्नेतराणि श्रयते इति? अत्रोच्यते—मत्यवधिमनःपर्यायाणां श्रुतस्यैवोपग्राहकत्वात्। चेतनाज्ञस्वाभाव्याच्च सर्वजीवानां नास्य कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरज्ञो वा जीवो विद्यते, तस्मादपि विपर्ययान्न श्रयत इति। अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनानामपि प्रामाण्यमनुज्ञायत इति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १/३५/पृ. ७१-७२।

१४९. 'जैनों की प्रमाणमीमांसा-पद्धति का विकासक्रम'/अनेकान्त (मासिक)/वर्ष १/किरण ५/चैत्र संवत् १९८६/पृष्ठ २६४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है, उनके सम्बन्ध में कोई विस्तृत चर्चा नहीं की गई है। सत्तर पृष्ठों में चर्चा करनेवाला ग्रन्थ विकसित है या मात्र दो पृष्ठों में चर्चा करनेवाला विकसित है, पाठक स्वयं यह विचार कर लें।'' (जै.ध.या.स./पृ.३०३)।

इस विषय में मेरा निवेदन है कि ऐसे अनेक सूत्र हैं, जिनकी व्याख्या भाष्य में सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा दुगुनी, चौगुनी, पचगुनी और छहगुनी पंक्तियों में की गई है। देखिए—

अध्यायक्रमांक	सूत्रक्रमांक		पंक्तिसंख्या	
	स. सि.	भाष्य	स. सि.	भाष्य
३	३	३	१३	३९
३	४	४	५	१९
३	५	५	९	२३
३	६	६	५	२६
३	७	७	६	७
३	८	८	४	१०
३	९	९	५	१५
३	११	११	७	३२
३	३४	१३	५	१६
३	३९	१८	३	१७
४	६	६	१०	१२
४	८	९	८	१२
४	१०	११	६	१९
४	११	१२	४	३१
४	१३	१४	६	१४
४	१४	१५	४	५

अध्यायक्रमांक	सूत्रक्रमांक		पंक्तिसंख्या	
	स. सि.	भाष्य	स. सि.	भाष्य
४	२०	२१	४	१४
४	२१	२२	८	२९
४	२३	२४	२	७
५	३०	२९	११	२९
५	३२	३१	७	११
७	१०	५	६	१०
७	११	६	६	१२
७	२३	१८	५	१०
८	९	१०	२४	४४
८	११	१२	४१	६१
९	६	६	१५	४८
९	७	७	७०	८१
९	२४	२४	६	१२
१०	९	७	२५	१४१

इसे देखते हुए डॉक्टर साहब के उपर्युक्त तर्क के अनुसार सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य विकसित सिद्ध होता है।

६.३. अव्याख्या व्याख्याग्रन्थ की अविकसितता का लक्षण नहीं

डॉ० सागरमल जी ने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की अविकसितता का उदाहरण देते हुए अपने पूर्वोद्धृत वक्तव्य में कहा है कि उसमें प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या में "मार्गणा के रूप में मात्र गति, इन्द्रिय, काय, योग, कषाय आदि का नामोल्लेख है, उनके सम्बन्ध में कोई विस्तृत चर्चा नहीं की गई है।" (जै.ध.या.स./पृ. ३०३)।

इस प्रकार उन्होंने व्याख्या न किये जाने को व्याख्याग्रन्थ का अविस्तृत या अविकसित होना कहा है और उसे प्राचीनता का लक्षण माना है। डॉक्टर सा० के इस कथन से मैं सहमत हूँ कि मार्गणा की व्याख्या में भाष्यकार ने केवल गति, इन्द्रिय आदि का नामोल्लेख किया है। किन्तु केवल उपर्युक्त सूत्र की ही नहीं, अनेक सूत्रों की व्याख्या भाष्यकार ने इतने कम शब्दों में की है कि उसे व्याख्या ही नहीं कहा जा सकता। सूत्र के ही शब्दों में कोई पद या क्रिया जोड़कर भाष्यवाक्य लिख दिया गया है। शब्दों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं किया। उदाहरणार्थ—

१

सूत्र—**औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणा- मिकौ च।** (२/१)।

भाष्य—**औपशमिकः क्षायिकः क्षायोपशमिक औदयिकः पारिणामिक इत्येते पञ्च भावा जीवस्य स्वतत्त्वं भवन्ति।** (२/१)

यहाँ भाष्य सूत्र के ही बराबर संक्षिप्त है, क्योंकि व्याख्या तो कोई की ही नहीं गई है। औपशमिक, क्षायिक आदि शब्द भाष्य में ज्यों के त्यों रख दिये गये हैं। उनका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ स्पष्ट किया जाता तब, कहीं सूत्र की व्याख्या कहला सकती थी। सर्वार्थसिद्धिकार ने यह किया है, इसलिए उनकी व्याख्या की पंक्तियाँ बढ़ गई हैं। ऐसा नहीं माना जा सकता कि भाष्यकार को इन शब्दों की व्युत्पत्ति या अर्थ मालूम नहीं था अथवा उनके समय तक उसका विकास नहीं हुआ था और सर्वार्थसिद्धिकार ने ही उसे विकसित किया है। यदि ऐसा होता, तो पूर्ववर्ती सभी आचार्य, उनके अर्थबोध से रहित होते और उनके लिए तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन असंभव हो जाता। अतः संस्कृतज्ञ भाष्यकार को उक्त शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ तो मालूम था, लेकिन उसे बतलाने की उनकी रुचि नहीं हुई। यही भाष्य के संक्षिप्त होने का कारण है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—

२

सूत्र—**उपयोगो लक्षणम्।** (२/८)।

भाष्य—**उपयोगो लक्षणं जीवस्य भवति।** (२/८)।

यहाँ भी उपयोग की व्याख्या नहीं की गई।

३

सूत्र—**संसारिणो मुक्ताश्च।** (२/१०)।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

भाष्य—**ते जीवाः समासतो द्विविधा भवन्ति-संसारिणो मुक्ताश्च।** (२/१०)।

यहाँ भी 'संसारी' और 'मुक्त' शब्दों को अव्याख्यात ही छोड़ दिया गया।

४

सूत्र—**समनस्कामनस्काः।** (२/११)।

भाष्य—**समासतस्ते जीवा द्विविधा भवन्ति-समनस्काश्च अमनस्काश्च।** (२/१०)।

यहाँ पूर्वसूत्र (२/१०) के ही भाष्यवाक्य को दुहरा दिया गया है और समनस्क, अमनस्क शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने की परवाह नहीं की गई।

५

सूत्र—**संसारिणस्त्रसस्थावराः।** (२/१२)।

भाष्य—**संसारिणो जीवा द्विविधा भवन्ति त्रसाः स्थावराश्च।** (२/१२)।

यहाँ त्रसनामकर्म और स्थावरनामकर्म के आधार पर त्रस और स्थावर शब्दों की व्याख्या की जाती, तो भाष्य नाम सार्थक होता।

६

सूत्र—**अनुश्रेणिगतिः।** (२/२७)।

भाष्य—**सर्वा गतिर्जीवानां पुद्गलानां चाकाशप्रदेशानुश्रेणिर्भवति। विश्रेणिर्न भवतीति गतिनियम इति।** (२/२७)।

यहाँ 'श्रेणी' का अर्थ समझ न पाने के कारण पाठक सूत्र का अर्थ कैसे समझ पायेगा, इस ओर भाष्यकार का ध्यान नहीं गया।

७

सूत्र—**मूर्च्छा परिग्रहः।** (७/१२)।

भाष्य—**चेतनावत्स्वचेतनेषु च बाह्याभ्यन्तरेषु द्रव्येषु मूर्च्छा परिग्रहः। इच्छा प्रार्थना कामोऽभिलाषः काङ्क्षा गाद्धर्यं मूर्च्छेत्यनर्थान्तरम्।** (७/१२)।

यहाँ भी भाष्यकार ने 'मूर्च्छा' शब्द की व्याख्या में रुचि नहीं दर्शायी। यद्यपि मूर्च्छा के सभी पर्यायवाचियों का उल्लेख उन्होंने कर दिया है, तथापि श्वेताम्बरमत-सम्मत वह व्याख्या नहीं की, जिसके अनुसार वस्त्र-पात्रादि रखते हुए भी श्रमण और श्रमणी अपरिग्रही या निर्ग्रन्थ कहला सकते हैं। मूर्च्छा शब्द का जो इच्छा-प्रार्थना-रूप अर्थ है, उससे तो वस्त्र-पात्रादि की इच्छा या याचना भी परिग्रह सिद्ध होती है, जिसके

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

अनुसार दिगम्बर मुनि ही अपरिग्रही या निर्ग्रन्थ कहला सकता है। इसका निषेध करने के लिए भाष्यकार कम से कम दशवैकालिकसूत्र की निम्नलिखित गाथाओं को तो उद्धृत कर ही सकते थे—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥ ६/१९॥

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा॥ ६/२०॥

किन्तु उन्होंने न तो इन गाथाओं को उद्धृत किया, न ही इनका भावार्थ अपने शब्दों में प्रस्तुत किया। इससे सिद्ध है कि भाष्यकार को महत्त्वपूर्ण सूत्रों की भी व्याख्या करने में रुचि नहीं थी। यही भाष्य के संक्षिप्त होने का कारण है।

इसी प्रकार परीषहसूत्र (९/९) में वर्णित बाईस परीषहों में से एक भी परीषह का लक्षण नहीं बतलाया। **नाग्न्य** तक की **लोकरूढ़नाग्न्य** अथवा **मुख्यनाग्न्य** और **उपचरितनाग्न्य** रूप से व्याख्या नहीं की।

भाष्यकार ने **'तत्त्वार्थ'** के सूत्रों में आये अन्य अनेक शब्दों की भी व्याख्या नहीं की है, जैसे औदारिक आदि शरीरों की, गर्भ, सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की। लेश्या, प्रदोष, निह्नव, आसादन, दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, परिदेवन, अवर्णवाद, आरम्भ, माया, दर्शनविशुद्धि, प्रमत्त, इत्वर, पुद्गलक्षेप, आदि अनेक शब्द व्याख्या से वंचित रह गये हैं। वस्तुतः भाष्यकार अपने ग्रन्थ का कलेवर अतिसंक्षिप्त रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने जानबूझकर ऐसा किया है। डॉ० सागरमल जी ने भी यह बात स्वीकार की है। वे लिखते हैं-"यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि **तत्त्वार्थ** मूल और उसके **भाष्य** दोनों की शैली **सूत्रशैली** है और सूत्रशैली में अनावश्यक विस्तार से बचना होता है।" (जै.ध.या.स./पृ. ३४१)। वस्तुतः भाष्यकार अनावश्यक विस्तार से ही नहीं, **आवश्यक विस्तार से भी बचे हैं**। यही कारण है कि उन्होंने गुणस्थानानुसार कर्मों के आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा के विवेचन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य से भी परहेज किया है।

डॉ० सागरमल जी का यह कथन समीचीन नहीं है कि **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** लिखे जाने तक **गुणस्थानसिद्धान्त** पूर्णरूप से विकसित नहीं हुआ था, इसलिए भाष्य में उसकी चर्चा नहीं हुई। (जै.ध.या.स./पृ. २४८)। **आचार्य कुन्दकुन्द का समय** नामक दशम अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पूर्व गुणस्थान-सिद्धान्त अपने पूर्ण विकसित रूप में मौजूद था। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र

में गुणस्थानों के अनुसार बाईस परीषहों और चतुर्विध ध्यानों का स्वामित्व निरूपित किया गया है। तदनुसार भाष्य में भी उसका उल्लेख हुआ है। फर्क सिर्फ यह है कि भाष्यकार ने गुणस्थानों के अनुसार कर्मों के आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा का विवेचन नहीं किया। इसके दो ही कारण हैं—विस्तारभय और रुचि का अभाव। इनमें रुचि का अभाव मुख्य कारण है। और उसका कारण यह है कि गुणस्थानसिद्धान्त श्वेताम्बर मान्यताओं के प्रतिकूल है। अतः सर्वार्थसिद्धि के उपस्थित रहते हुए भी भाष्यकार ने गुणस्थानानुसार विवेचन का अनुकरण नहीं किया।

ग्रन्थकार की रुचि पूर्ववर्ती ग्रन्थ से किसी विषय के ग्रहण या अग्रहण का महत्त्वपूर्ण हेतु होती है। इसे डॉक्टर साहब ने स्वयं स्वीकार किया है। सर्वार्थसिद्धि की रचना तत्त्वार्थाधिगमभाष्य से पूर्व हुई थी, यह पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है। उसमें "**वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य**" (त.सू.५/२२) सूत्र की टीका (पृ.२२३) में पूज्यपाद स्वामी ने परत्वापरत्व के दो भेद माने हैं-**क्षेत्रकृत** और **कालकृत**। किन्तु भाष्य (पृ. २६७) में एक अतिरिक्त भेद भी माना गया है **प्रशंसा-कृत**। इससे स्पष्ट होता है कि भाष्य में अर्थविकास हुआ है, फलस्वरूप वह सर्वार्थ-सिद्धि के बाद रचित सिद्ध होता हैं। किन्तु डॉ० सागरमल जी सर्वार्थसिद्धि को भाष्य के बाद रचित सिद्ध करना चाहते हैं। अतः उन्होंने तर्क दिया है कि पूज्यपाद स्वामी ने भाष्य का अनुकरण किया है, किन्तु **परत्वापरत्व** का **प्रशंसाकृत भेद** स्वीकार नहीं किया, क्योंकि यह उनकी रुचि का प्रश्न था। वे लिखते हैं—"सर्वार्थसिद्धि भाष्य की अपेक्षा विचार और भाषा दोनों ही दृष्टि से अधिक विकसित है। परत्व और अपरत्व के भेदों की चर्चा में क्षेत्र और काल के अतिरिक्त **प्रशंसा** को उसका एक भेद मानना अथवा नहीं मानना यह **पूज्यपाद की व्यक्तिगत रुचि** का प्रश्न भी हो सकता है। सम्भवतः पूज्यपाद ने भाष्य के सम्मुख होते हुए भी उसे स्वीकार न किया हो, किन्तु आगे अकलंक ने अपने वार्तिक में उसका अनुसरण किया है।" (जै.ध.या.स./पृ. ३०३)।

इस प्रकार डॉक्टर साहब किसी ग्रन्थ से कुछ लेने या न लेने को लेखक की रुचि का प्रश्न मानते हैं। मेरा भी यही कहना है कि सर्वार्थसिद्धि भाष्यकार के समक्ष मौजूद थी। उन्होंने उसमें से वह विषय तो ग्रहण कर लिया जो उनकी रुचि के अनुकूल था, किन्तु गुणस्थान-सिद्धान्त को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि वह उनकी रुचि के अनुकूल नहीं था। इसीलिए प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या में उसकी चर्चा नहीं की गयी।

निष्कर्ष यह कि भाष्यकार ने अनेक सूत्रों के नीचे जो एक-दो वाक्य लिखे हैं, वे व्याख्या की परिभाषा में नहीं आते, अतः व्याख्या के अभाव को व्याख्याग्रन्थ के अविकसित होने का उदाहरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्याख्या के अभाव

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

में तो उसे व्याख्याग्रन्थ संज्ञा ही प्राप्त नहीं हो सकती। भाष्य में जिन सूत्रों की व्याख्या की गयी है, उन्हीं सूत्रों की व्याख्या के कारण वह व्याख्याग्रन्थ या भाष्यग्रन्थ कहला सकता है और उन सूत्रों की व्याख्या का विस्तार सर्वार्थसिद्धिगत व्याख्या के विस्तार से अधिक है। उनकी पंक्तिसंख्या पूर्व में बतलायी जा चुकी है। जहाँ विस्तार अधिक नहीं है, वहाँ वह समान है। इससे सिद्ध है कि भाष्य ही सर्वार्थसिद्धि से अधिक विकसित है। अतः सर्वाथसिद्धि को भाष्योत्तरवर्ती सिद्ध करने के लिए बतलाया गया विकसित होने का हेतु असत्य है।

तथापि किसी ग्रन्थ का विस्तृत होना उसकी अर्वाचीनता का लक्षण नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर आचारांगादि समस्त श्वेताम्बर-आगम तत्त्वार्थसूत्र से अर्वाचीन सिद्ध होंगे, क्योंकि वे उससे अधिक विस्तृत हैं। दूसरी ओर १०वीं शती ई० के बृहत्प्रभाचन्द्र द्वारा रचित १०५ सूत्रवाला लघु तत्त्वार्थसूत्र उमास्वातिकृत ३५७ सूत्रवाले तत्त्वार्थसूत्र से पूर्ववर्ती सिद्ध होगा। इसका विस्तृत विवेचन दशम अध्याय के चतुर्थ प्रकरण में शीर्षक ३.४. में द्रष्टव्य है। सर्वार्थसिद्धि की भाष्यपूर्वता पूर्वोक्त शीर्षक क्र. १ से ५ तक प्रदर्शित प्रमाणों से सिद्ध होती है।

६.४. दोनों की रचना सम्प्रदायभेद के बाद

तीसरा तर्क देते हुए पं० सुखलाल जी संघवी लिखते हैं—"उक्त दो बातों की अपेक्षा साम्प्रदायिकता की बात अधिक महत्त्वपूर्ण है। कालतत्त्व, केवलि-कवलाहार, अचेलकत्व और स्त्रीमुक्ति जैसे विषयों के तीव्र मतभेद का रूप धारण करने के बाद और इन बातों पर साम्प्रदायिक आग्रह बँध जाने के बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गई, जब कि भाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का यह तत्त्व दिखाई नहीं देता।" (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ. ६४)।

संघवी जी का यह तर्क भी तथ्यों के विपरीत हैं। तथ्य यह है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य दोनों की रचना सम्प्रदायभेद के बाद ही हुई है और दोनों में **साम्प्रदायिक मतभेद** दिखाई देता है। जहाँ सर्वार्थसिद्धि में सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का एकान्ततः निषेध है, वहाँ भाष्य में उनका एकान्ततः प्रतिपादन है। '**दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास**' नामक षष्ठ अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि मूल निर्ग्रन्थसंघ का सर्वप्रथम विभाजन अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी (४६५ ई० पू०) के निर्वाण के बाद ही हो गया था। दूसरा विभाजन ईसापूर्व चौथी शती में सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के परिणामस्वरूप हुआ था। दोनों बार विभाजन का कारण अचेलमुक्ति और सचेलमुक्ति को लेकर उत्पन्न हुआ मतभेद था। अचेल-मुक्ति के सिद्धान्त में स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति के लिए स्थान नहीं है, यह पूर्व

में स्पष्ट किया जा चुका है। तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल संघवी जी स्वयं ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी मानते हैं। अतः जब तत्त्वार्थसूत्र की ही रचना साम्प्रदायिक मतभेद के दृढ़मूल हो जाने के बाद हुई थी, तब उस पर किसी टीका या भाष्य की रचना उसके बाद ही हो सकती है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं का मतभेद स्पष्ट दिखाई देता है। इसका सप्रमाण निरूपण इसी अध्याय के आरंभ में किया जा चुका है।

दूसरी बात यह है कि ई० सन् ४७५-४९० के **कदम्बवंशीय राजा श्रीविजय-शिवमृगेश वर्मा** एवं **मृगेशवर्मा** के अभिलेखों में **श्वेतपटमहाश्रमणसंघ, निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ, यापनीयों** तथा **कूर्चकों** को दान दिये जाने का उल्लेख है।[१५०] इनके सैद्धान्तिक मतभेद का पता इनके नामों से ही चल जाता है। यदि अन्य प्रमाणों को छोड़कर इस शिलालेख के ही आधार पर विचार करें, तो इन चारों सम्प्रदायों का अस्तित्व शिलालेख लिखे जाने के कम से कम पचास वर्ष पूर्व से तो मानना ही होगा जिसका तात्पर्य यह है कि ४२५ ई० में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति को अमान्य करने वाला दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय तथा इसके विरुद्ध मान्यताएँ रखनेवाले श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय मौजूद थे।

सर्वार्थसिद्धिकार **पूज्यपाद स्वामी** का समय ४५० ई० के लगभग माना गया है, क्योंकि उनके शिष्य **वज्रनन्दी** ने वि० स० ५२६ (ई० सन् ४६९) में **द्रविड़संघ** की स्थापना की थी।[१५१] अतः उनका स्थितिकाल इससे पूर्व ही हो सकता है। दूसरी ओर **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** की रचना तभी संभव है जब **तत्त्वार्थसूत्र** लिपिबद्ध हो चुका हो। यहाँ मैं डॉ० सागरमल जी के शब्द उद्धृत करना चाहूँगा। वे लिखते हैं—"तत्त्वार्थभाष्य के काल तक जैनपरम्परा में पुस्तक लेखन की प्रवृत्ति विकसित नहीं हुई थी। मुनि के लिए ग्रन्थलेखन और लिखित ग्रन्थों का संग्रह करना प्रायश्चित-योग्य अपराध माने जाते थे, क्योंकि ताड़पत्र पर ग्रन्थ लिखने और उनका संग्रह करने दोनों में जीवहिंसा अपरिहार्य थी, जब कि सर्वार्थसिद्धि जिस काल में लिखी गई, उस काल में लेखन-परम्परा प्रारंभ हो चुकी थी। श्वेताम्बरपरम्परा में सर्वप्रथम वी० नि० सं० ९८० अर्थात् विक्रम सं० ५१० या ई० सन् ४५३ में यह सुनिश्चित किया गया है कि यदि आगमसाहित्य की रक्षा करना हो, तो उन्हें ताड़पत्रों पर लिखवाना और संगृहीत करना होगा। इस प्रकार **श्वेताम्बरपरम्परा में ग्रन्थलेखन की प्रवृत्ति तत्त्वार्थभाष्य की रचना के लगभग**

---

१५०. देखिए, अभिलेखों का सम्बन्धित मूलपाठ, अध्याय २/प्रकरण ६/शीर्षक २।

१५१. डॉ० दरबारीलाल कोठिया : 'समन्तभद्र और दिग्नाग में पूर्ववर्ती कौन?'/'अनेकान्त' (मासिक), जनवरी १९४३।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

दो सौ वर्ष बाद प्रारंभ हुई। जो ग्रन्थ मुखाग्रपरम्परा से २०० वर्षों तक चला आ रहा हो, उसमें पाठभेद होना आश्चर्यजनक नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सभी मुनि तत्त्वार्थसूत्र को उसके भाष्य के साथ ही कंठस्थ तो नहीं करते थे, कुछ मात्र सूत्र को कण्ठस्थ करते रहे होंगे। अतः सूत्रगत पाठ और भाष्यगत पाठ में क्वचित् अंतर आ गया हो।'' (जै.ध.या.स./पृ. २५८)।

डॉक्टर साहब के इस कथन के अनुसार सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र और तत्वार्थभाष्य ई० सन् ४५३ के बाद लिपिबद्ध किये गये। इसके पूर्व तक दोनों श्रुतिपरम्परा या मौखिक-परम्परा से चले आ रहे थे। **किन्तु तत्त्वार्थसूत्र का श्रुतिपरम्परा से चला आना तो युक्तिसंगत है, लेकिन भाष्य का श्रुतिपरम्परा से चला आना युक्तिसंगत नहीं है**। क्योंकि भाष्य जैसे विशाल गद्य को कण्ठस्थ करना और उसे स्मृति में सुरक्षित रखना असंभव है। दूसरी बात यह है कि **किसी भी गद्य या पद्य को कण्ठस्थ करने के लिए बार-बार दुहराना पड़ता है। और दुहराने के लिए यह जरूरी है कि या तो वह लिखित रूप में सामने हो या कोई उसे मुँह से बोलकर तब** तक बार-बार सुनाता रहे, जब तक दुहराते-दुहराते वह कण्ठस्थ न हो जाय। और मुँह से बोलकर दूसरे को सुनाने के लिए स्वयं को पहले से कण्ठस्थ होना चाहिए। और स्वयं को कण्ठस्थ होने के लिए दूसरे के मुख से सुनना आवश्यक है। इस तरह दूसरे को बोलकर सुनानेवाला प्रथम व्यक्ति स्वयं भाष्यकार ही हो सकता है। किन्तु यह भाष्यकार के लिए भी संभव नहीं है कि वह इतने विशाल गद्य को मुँह से घण्टों बोलता रहे, उसे तब तक बार-बार दुहराता रहे, जब तक सुननेवाले को कण्ठस्थ न हो जाय। यह भी संभव नहीं है कि भाष्यकार ने जो कुछ पहले सुनाया है, उसे वह ज्यों का त्यों दूसरी बार दुहरा सके। और दूसरी बार ज्यों का त्यों न दुहराने से जो बोला गया है, सुननेवाले के मन पर उसके संस्कार दृढ़ नहीं हो सकते। इस प्रकार किसी भी विशाल अलिखित गद्य को कण्ठस्थ करना संभव नहीं है। **इसीलिए कण्ठस्थ करने के उद्देश्य से सूत्रशैली और पद्यशैली का प्रचलन हुआ था। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के सभी प्राचीन ग्रन्थ, जो श्रुतिपरम्परा से चले आये हैं, सूत्रबद्ध और पद्यबद्ध ही मिलते हैं**। उन पर जो भी टीकाएँ या भाष्य लिखे गये, वे ग्रन्थलेखन-प्रथा के प्रचलित होने पर ही लिखे गये। क्योंकि विस्मृति से बचाने के लिए उनका तत्काल लिपिबद्धीकरण आवश्यक था। किन्तु श्वेताम्बरपरम्परा में धार्मिक ग्रन्थों के लेखन की प्रथा ई० सन् ४५३ तक प्रारंभ नहीं हुई थी। अतः उसके पश्चात् ही भाष्य की रचना संभव थी। इस स्थिति में यदि भाष्य का रचयिता सूत्रकार को ही माना जाय तो सूत्रकार का स्थितिकाल छठी शताब्दी ई० मानना होगा, जो उपलब्ध प्रमाणों के विरुद्ध है। उपलब्ध प्रमाण उन्हें द्वितीय शती ई० में ही विद्यमान

सिद्ध करते हैं। अतः अन्यथानुपपत्ति से यही सिद्ध होता है कि पाँचवीं शती ई० में वलभीवाचना के समय तत्त्वार्थसूत्र के लिपिबद्ध हो जाने के पश्चात् ही सूत्रकार से भिन्न उमास्वाति नाम के आचार्य ने उस पर भाष्य लिखा।

दूसरी बात यह है कि मूलग्रन्थ के लिपिबद्धरूप में उपलब्ध होने पर ही कोई विद्वान् उस पर भाष्यादि रच सकता है। स्वयं मूलग्रन्थकार के लिए मूलग्रन्थ को लिपिबद्ध किये बिना उस पर भाष्य, टीका या वृत्ति रचना संभव नहीं है। और भाष्य, टीका, वृत्ति आदि तो लिपिबद्ध करते हुए ही रचे जा सकते हैं, क्योंकि लिपिबद्ध न करने पर पहले किस सूत्र का भाष्य किया जा चुका है, उसके भाष्य में क्या कहा गया है, किसी शब्द की क्या निरुक्ति या व्याख्या की गयी है, कौन से दृष्टान्त दिये गये हैं, कौन सी शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया गया है, किस मत का खण्डन और किस की पुष्टि की गयी है, किन पूर्वाचार्यों के किन वचनों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है, इन बातों का विस्मृत होना अनिवार्य है। द्वादशांगश्रुत का अधिकांश ज्ञान पंचमकाल में स्मृतिक्षमता के क्रमिक ह्रास से ही लुप्त हुआ है। जैसे कोई दृष्टिहीन स्त्री गेंहूँ पीस रही हो और आटे को गाय खाती जा रही हो, तो उसकी रसोई कभी नहीं बन सकती, वैसे ही कोई पंचमकालीन भाष्यकार सूत्रों के भाष्य का मन में चिन्तन करता जा रहा हो और पूर्वचिन्तित भाष्य को भूलता जा रहा हो, तो उसके भाष्य की रचना कभी नहीं हो सकती।

भाष्यरचना में न केवल सूत्रादि के सम्यक् अर्थ का चिन्तन, उसकी पुष्टि के लिए दृष्टान्त, प्रमाण आदि का अन्वेषण और यथास्थान संयोजन आवश्यक होता है, अपितु उपयुक्त शब्द, वाक्य, अलंकार और व्याकरण का प्रयोग भी आवश्यक होता है तथा किसी बात की पुनरुक्ति अथवा किसी तथ्य की च्युति न हो, इसका भी ध्यान रखना पड़ता है। फिर जरूरत होती है, उन्हें ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने की। इसके लिए उन्हें लिपिबद्ध करना ही एकमात्र उपाय होता है। अतः किसी भी भाष्य, टीका या वृत्ति की रचना उसे लिपिबद्ध किये बिना संभव नहीं है। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना तत्त्वार्थसूत्र के लिपिबद्ध होने के पश्चात् लिपिबद्धरूप में ही ईसा की छठी शती के पूर्वार्ध में हुई थी। और दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदायभेद इसके बहुत पहले हो चुका था, जो राजा **श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा** के शिलालेख से भी प्रमाणित है, इसलिए भाष्य भी सम्प्रदायभेद के बाद ही रचा गया है। अतः **सर्वार्थसिद्धि** में श्वेताम्बरमत-विरोधी तथ्यों का उल्लेख होने पर भी वह भाष्य से पूर्ववर्ती ही सिद्ध होती है। फलस्वरूप सर्वार्थसिद्धि को भाष्योत्तरवर्ती सिद्ध करने के लिए संघवी जी द्वारा प्रस्तुत किया गया यह हेतु भी सर्वथा असत्य है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना सम्प्रदायभेद के बाद हुई है और तत्त्वार्थधिगमभाष्य का प्रणयन उसके पहले।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

७

भाष्य का रचनाकाल छठी शती ई० का पूर्वार्ध

ऊपर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के रचनाकाल का अन्वेषण करते हुए इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि उसकी रचना पाँचवीं शती ई० के उत्तरार्ध में तत्त्वार्थसूत्र के पुस्तकारूढ़ होने के पश्चात् हुई है। वह पश्चाद्वर्ती समय छठी शती ई० का पूर्वार्ध हो सकता है। इसकी पुष्टि निम्नलिखित प्रमाणों से होती है। पं० नाथूराम जी प्रेमी 'जैन साहित्य और इतिहास' (द्वि.सं./पृ.५४५-५४६) में लिखते हैं—

"अध्याय ५, सूत्र २९ के तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने **पातञ्जलयोगसूत्र** के दो सूत्र उद्धृत किये हैं—"**योगिज्ञानप्रमाणाभ्युपगमे त्वभ्रान्तस्तदवस्थाभेदः। एवं यमादिपालनानर्थक्यम्। एवं च सति 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः, 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' इति आगमवचनं वचनमात्रम्।**" और जैसा कि पं० राहुल सांकृत्यायन ने कहा है, **योगसूत्रकार** का समय ईस्वी सन् २५० (वि० सं० ३०७) के लगभग है। अत एव **उमास्वाति** का समय विक्रम की चौथी शती के लगभग होगा।

"योगसूत्र और उसके भाष्य के साथ तत्त्वार्थसूत्रों और तत्त्वार्थभाष्य की शाब्दिक तथा आर्थिक समानता बहुत है। अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका था कि किस का किस पर असर है, परन्तु योगसूत्र के उपरिलिखित दो सूत्रों के तत्त्वार्थभाष्य में उद्धृत होने से यह निश्चय हो जाता है कि **योगसूत्र** भाष्य से पहले का है और उसी का भाष्य पर असर है। अब योगसूत्र के व्यासभाष्य को भी लीजिए। उसका प्रभाव भी तो तत्त्वार्थभाष्य पर दिखलाई देता है।

"जैनागमों में यह चर्चा आती है कि पहले बाँधी हुई आयु टूट भी सकती है और नहीं भी टूटती। परन्तु यहाँ आयु के टूट सकने के पक्ष में भीगे कपड़े और सूखे घास के उदाहरण नहीं मिलते, जब कि **तत्त्वार्थभाष्य** में मिलते हैं और **व्यासभाष्य** में भी। दोनों भाष्यों के पाठ इस प्रकार हैं—

"---शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति।---अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोगः उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्। ---संहतशुष्कतृणराशि-दहनवत्। **यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णापचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशु दाहो भवति तद्वत्।---यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव संहतश्चिरेण**

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

शोषमुपयाति एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते ---।'' (तत्त्वार्थभाष्य/२/५२/पृ.१३२-१३४)।

''आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र **यथार्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव सम्पिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा वाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्।''** (योगभाष्य ३/२२)।

''व्यासभाष्य का ठीक समय मालूम नहीं है, फिर भी वह योगसूत्र के बाद का तो है ही, इसलिए ईस्वी सन् ३०० से पहले का नहीं हो सकता और तब यदि तत्त्वार्थभाष्य के उदाहरण व्यासभाष्य से ही लिये गये हैं, तो उमास्वाति विक्रम की चौथी शताब्दी के लगभग ठहरेंगे।'' (जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ. ५४५-५४६)।

प्रेमी जी तत्त्वार्थसूत्रकार और भाष्यकार को अभिन्न मानते हैं, इसलिए उन्होंने भाष्यकार के काल को तत्त्वार्थसूत्रकार का काल मान लिया है। वास्तव में दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, अतः विक्रम की चौथी शताब्दी का अनुमान भाष्यकार के विषय में समझना चाहिए।

किन्तु हम पूर्व में देख चुके हैं कि भाष्य में सर्वार्थसिद्धि का अनुकरण किया गया है और सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद स्वामी ने भाष्य की दिगम्बरमत-विरुद्ध मान्यताओं का खण्डन भी नहीं किया है, जैसा कि अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में किया है, अतः **भाष्यकार पाँचवी शती ई० के पूर्वार्ध में हुए पूज्यपाद स्वामी से उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं।**

दूसरी तरफ **नाग्न्यपरीषह** को सचेल साधु पर घटाने के लिए जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण-कृत **विशेषावश्यकभाष्य** में जो **लोकरूढनाग्न्य** या **उपचरितनाग्न्य** की कल्पना की गयी है, वह **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** में नहीं मिलती। विशेषावश्यकभाष्य की रचना वि० सं० ६६६ (ई० सन् ६०९) में हुई थी (साध्वी संघमित्रा : जैनधर्म के प्रभावक आचार्य/पृ. ३०८), अतः तत्त्वार्थाधिगमभाष्य का उसके पूर्व लिखा जाना सुनिश्चित है। इस तरह यह निर्णीत होता है कि उसकी रचना छठी शती ई० के पूर्वार्ध में हुई थी।

तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध है, यह 'आचार्य कुन्दकुन्द का समय' नामक दशम अध्याय के प्रथम प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय के षष्ठ प्रकरण में भी इस पर प्रकाश डाला जायेगा।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८

तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का नाम गृध्रपिच्छाचार्य

श्वेताम्बरपरम्परा में तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य), दोनों एक ही व्यक्ति द्वारा रचित माने गये हैं। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के कर्त्ता ने भाष्य की प्रशस्ति में अपना नाम उमास्वाति बतलाया है—"**तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम्।**" इसलिए श्वेताम्बरपरम्परा उमास्वामी को ही तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता मानती है। दिगम्बरपरम्परा में तत्त्वार्थसूत्रकार के लिए तीन नामों का प्रयोग मिलता है—गृद्धपिच्छाचार्य, उमास्वाति और उमास्वामी। इनमें सबसे पुराना नाम **गृद्धपिच्छाचार्य** है। धवलाकार **वीरसेन स्वामी** (८वीं शती ई०) ने निम्नलिखित वाक्य में तत्त्वार्थसूत्र को गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा रचित बतलाया है—

"**तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिद-तच्चत्थसुत्ते वि 'वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' इदि दव्वकालो परूविदो।**" (धवला/ष.खं./पु. ४/१,५,१/पृ. ३१६)।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि महान् ग्रन्थों के रचयिता श्री **विद्यानन्दस्वामी** (८वीं-९वीं शती ई०) ने अधोलिखित वाक्य में सूचित किया है कि भगवान् महावीर के शासन में जो सूत्रकार हुए हैं, उनमें अन्तिम सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ थे—

"**एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।**" (तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक/पृ. ६)।

श्री **वादिराजसूरि** (११वीं शती ई०) ने **पार्श्वनाथचरित** में तत्त्वार्थसूत्रकर्त्ता आचार्य गृद्धपिच्छ का इन शब्दों में उल्लेख किया है—

अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम्।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पत्तिष्णवः॥

अनुवाद—"उन महान् गुणों के आकर, गृद्धपिच्छ को मैं नमस्कार करता हूँ, जो उड़कर निर्वाण को पहुँचने के अभिलाषी भव्यों के लिए पंखों का काम करते हैं।"

इन उल्लेखों से सिद्ध है कि ईसा की ११वीं शताब्दी तक दिगम्बर जैन-परम्परा में एकमात्र यही मान्यता प्रचलित थी कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं।

श्रीविद्यानन्दस्वामी-कृत **आप्तपरीक्षा** की "**प्रणेता मोक्षमार्गस्य**" इत्यादि ११९वीं कारिका की स्वोपज्ञटीका में यह वाक्य आया है—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

''साक्षान्मोक्षमार्गस्य सकलबाधकप्रमाणरहितस्य य प्रणेता स एव विश्व-तत्त्वज्ञताऽऽश्रयः प्रतिपाद्यते---।''[१५२]

अनुवाद—''जो समस्त बाधक प्रमाणों से रहित साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रणेता है, वही विश्वतत्त्वज्ञता का आश्रय है, अर्थात् सर्वज्ञ है, यह हम प्रतिपादित करते हैं ---।''

डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया ने उपर्युक्त वाक्य में पादटिप्पणी (क्रमांक २) देकर सूचित किया है कि 'आप्तपरीक्षा' की 'मु'-संज्ञक प्रतियों अर्थात् मुद्रित दो प्रतियों (जैनधर्म प्रचारिणी सभा, काशी/ई० सन् १९१३ एवं जैनसाहित्य-प्रसारक कार्यालय बम्बई/ई० सन् १९३०) में **'विश्वतत्त्वज्ञताऽऽश्रयः'** के पश्चात् **'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमा-स्वामिप्रभृतिभिः'** पाठ अधिक है, जिसे शामिल करने पर उपर्युक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार फलित होता है—

''जो समस्त बाधक प्रमाणों से रहित साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रणेता है, वही विश्वतत्त्वज्ञता का आश्रय है, अर्थात् सर्वज्ञ है, यह उमास्वामी आदि सूत्रकारों के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है (किया गया है)।''

उपर्युक्त अधिक पाठ प्रक्षिप्त है, इसके निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. यह डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया को प्राप्त 'आप्तपरीक्षा' की 'द' 'प' एवं 'स' नामक लिखित प्रतियों में उपलब्ध नहीं है। इसीलिए डॉ० कोठिया ने इसे आप्तपरीक्षा के स्वसम्पादित संस्करण में नहीं रखा। (देखिए, आप्तपरीक्षा/सम्पादकीय-डॉ० दरबारीलाल कोठिया/पृ.२)।

२. उपर्युक्त दो मुद्रित प्रतियों में दूसरी प्रति पहली प्रति का ही प्रतिरूप है (देखिये, वही/पृ.२), अतः उक्त अधिक पाठ एक ही मुद्रित प्रति में उपलब्ध मानना चाहिए।

३. उक्त पाठ को सम्मिलित करने से वाक्य का अर्थ असंगत हो जाता है। उपर्युक्त वाक्य तत्त्वार्थसूत्र के **'मोक्षमार्गस्य नेतारं'** इत्यादि मंगलाचरण की व्याख्या के प्रसंग में उक्त है तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता एक ही आचार्य हैं, अतः मंगलाचरण भी एक ही आचार्य द्वारा निबद्ध है। किन्तु **'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः'** शब्दों को शामिल करने से यह अर्थ निकलता है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता उमास्वामी आदि अनेक आचार्य

---

१५२. आप्तपरीक्षा/सम्पादक-अनुवादक : डॉ. दरबारीलाल कोठिया / भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्/ई.सन् १९९२/ कारिका ११९/ पृ. ३४५।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

हैं, अतः उक्त वाक्य में प्रतिपादित अर्थ इन अनेक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

प्रो० महेन्द्रकुमार जी जैन न्यायाचार्य ने भी इस विसंगति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। वे लिखते हैं—"श्रुतसागर के पहिले विद्यानन्द आचार्य ने आप्तपरीक्षा (पृ.३) में भी इस श्लोक ('**मोक्षमार्गस्यनेतारं**' आदि) को सूत्रकार के नाम से उद्धृत किया है। पर यही विद्यानन्द '**तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः**' जैसे वाक्य भी आप्त-परीक्षा (पृ.५४) में लिखते हैं, जो उमास्वामी के साथ ही साथ 'प्रभृति' शब्द से सूचित होनेवाले आचार्यों को भी तत्त्वार्थसूत्रकार मानने का या 'सूत्र' शब्द की गौणार्थता का प्रसंग उपस्थित करते हैं।" (तत्त्वार्थवृत्ति/भारतीय ज्ञानपीठ काशी/ई.सन् १९४९/प्रस्तावना/पृ.८५)।

श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी ने भी उक्त विसंगति का प्रदर्शन किया है। उन्होंने लिखा है—"पहले कथन ('**तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः**') में 'तत्त्वार्थसूत्रकार' यह उमास्वामी बगैरह आचार्यों का विशेषण है, न कि मात्र उमास्वामी का। अब यदि मुख्तार जी (पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार) के कथनानुसार अर्थ किया जाय, तो ऐसा फलित होता है कि उमास्वामी बगैरह आचार्य तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता हैं। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र का अर्थ यदि 'तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र' किया जाए, तो यह फलित अर्थ दूषित ठहरता है, क्योंकि तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र अकेले उमास्वामी द्वारा रचित माना जाता है, न कि उमास्वामी आदि अनेक आचार्यों द्वारा।" (त.सू./वि.स./प्रस्तावना/पृ.७६)।

यह विसंगति इस बात का प्रबल प्रमाण है कि '**तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामि-प्रभृतिभिः**' यह वाक्यांश आप्तपरीक्षाकार विद्यानन्द स्वामी का नही है, अपितु जब तत्त्वार्थसूत्रकार के लिए उमास्वामी नाम प्रसिद्ध हो गया, तब किसी के द्वारा प्रक्षिप्त कर दिया गया। प्रक्षिप्त करनेवाला आदरसूचनार्थ '**तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिभिः**' इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग करना चाहता था, किन्तु अज्ञानतावश 'प्रभृति' शब्द जोड़कर अर्थ का अनर्थ कर दिया।

४. श्री विद्यानन्दस्वामी के समय (८वीं-९वीं शती ई०) तक तत्त्वार्थसूत्रकार के लिए 'उमास्वामी' नाम प्रचलित भी नहीं हुआ था, क्योंकि श्रवणबेलगोल के ई० सन् १४३३ (शक सं० १३५५) तक के शिलालेखों में तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता **उमास्वाति** नाम से ही उल्लिखित किये गये हैं।

इन चार प्रमाणों से सिद्ध होता है कि '**तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः**' वाक्यांश विद्यानन्दस्वामी की लेखनी से उद्धृत नहीं हुआ है, अपितु प्रक्षिप्त है। विद्यानन्द-स्वामी ने केवल **गृध्रपिच्छाचार्य** को ही तत्त्वार्थसूत्रकार कहा है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम के साथ 'उमास्वाति' नाम का उल्लेख सर्वप्रथम श्रवण-बेलगोल के शक सं० १०३७ (१११५ ई०) के शिलालेख क्रमांक ४७ (१२७) में मिलता है—"**अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्य्यशब्दोत्तरगृद्धपिञ्छः**" (श्लोक ५)। तत्पश्चात् वहीं के शक सं० १०८५ के शिलालेख क्र० ४० (६४), शक सं० १०९९ के शिलालेख क्र. ४२ (६६), शक सं० १०४५ के शिलालेख क्र. ४३ (११७), शक सं. १०६८ के शिलालेख क्र. ५० (१४०), शक सं० १३२० के शिलालेख क्र. १०५ (२५४) तथा शक सं० १३५५ के शिलालेख क्र. १०८ (२५८) में भी उपर्युक्त दोनों नाम उपलब्ध होते हैं। अन्तिम दो शिलालेखों में 'गृद्धपिच्छाचार्य' इस द्वितीय नामवाले उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता भी कहा गया है। (देखिये, जै.शि.सं./मा.च./भाग १)।

मैसूर के नगर ताल्लुके के एक दिगम्बरजैन-शिलालेख (लगभग १५३० ई०) में भी उमास्वाति को **श्रुतकेवलिदेशीय** विशेषण के साथ तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता कहते हुए नमस्कार किया गया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥

(E C, VIII, Nagar tl., No. 46/ जै.शि.सं./ मा.च./ भा.३ /ले.क्र.६६७ / हुम्मच / पृ.५१८)।

श्रवणबेलगोल के शक सं० १०३७ (१११५ ई०) के शिलालेख क्र. ४७ (१२७) के पूर्ववर्ती किसी भी शिलालेख या दिगम्बरजैन-ग्रन्थ में 'उमास्वाति' के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। पं० नाथूराम जी प्रेमी भी अपने अनुसन्धान के द्वारा इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी के कुछ प्रश्नों के उत्तर में उनके लिए लिखे पत्र में प्रेमी जी लिखते हैं—

"श्रुतावतार, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में जो प्राचीन आचार्यपरम्परा दी हुई है, उसमें उमास्वाति का बिलकुल उल्लेख नहीं है। श्रुतावतार में कुन्दकुन्द का उल्लेख है और उन्हें एक बड़ा टीकाकार बतलाया है, परन्तु उनके आगे या पीछे उमास्वाति का कोई उल्लेख नहीं है। इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार यद्यपि बहुत पुराना नहीं है, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी प्राचीन रचना का रूपान्तर है और इस दृष्टि से उसका कथन प्रमाण-कोटि का है। 'दर्शनसार' ९९० संवत् का बनाया हुआ है, उसमें पद्मनन्दी या कुन्दकुन्द का उल्लेख है, परन्तु उमास्वाति का नहीं। जिनसेन के समय राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक बन चुके थे, परन्तु उन्होंने भी बीसों आचार्यों और ग्रन्थकर्त्ताओं की प्रशंसा के प्रसंग में उमास्वाति का उल्लेख

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

नहीं किया।---'**तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्**' आदि श्लोक मालूम नहीं कहाँ का है और कितना पुराना है। तत्त्वार्थसूत्र की मूल प्रतियों में यह पाया जाता है।'' ('अनेकान्त'/वर्ष १/किरण ६-७/वैशाख-ज्येष्ठ/वीरनिर्वाण सं.२४५६/वि.सं.१९८७/पृष्ठ ४०५)।

तत्त्वार्थसूत्रकार का 'उमास्वाति' नाम संभव नहीं

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में तत्त्वार्थसूत्रकार को जो 'उमास्वाति' नाम से अभिहित किया गया है, वह समीचीन नहीं है। श्वेताम्बरपरम्परा में तत्त्वार्थसूत्र और उस पर लिखा गया तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, दोनों एक ही व्यक्ति द्वारा रचित माने गये हैं। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के कर्त्ता ने भाष्य की प्रशस्ति में अपना नाम उमास्वाति बतलाया है, इसलिए श्वेताम्बरपरम्परा उमास्वाति को ही तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता मानती है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण (शीर्षक 'ग'/१) में सिद्ध किया गया है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति है तथा द्वितीय प्रकरण में यह प्रमाणित किया गया है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना तत्त्वार्थसूत्र पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका लिखे जाने के बाद हुई थी। अतः तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता भाष्यकार से पूर्ववर्ती हैं। फलस्वरूप उनका नाम उमास्वाति नहीं हो सकता। यह नाम तो भाष्यकार (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के कर्त्ता) का है।

यतः श्वेताम्बरपरम्परा तत्त्वार्थसूत्रकार और भाष्यकार को अभिन्न मानने के कारण उमास्वाति को ही तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता मानती है, अतः इसी से भ्रमित होकर ईसा की १२वीं शताब्दी से दिगम्बर-परम्परा में तत्त्वार्थसूत्रकार **गृद्धपिच्छाचार्य** का दूसरा नाम **उमास्वाति** माना जाने लगा, जैसा कि उपर्युक्त शिलालेखों से स्पष्ट है।

आगे चलकर दिगम्बरपरम्परा में 'उमास्वाति' के स्थान में **उमास्वामी** नाम प्रचलित हो गया। उसका सर्वप्रथम प्रयोग **श्रुतसागर सूरि** (१६वीं शती ई०) की **तत्त्वार्थवृत्ति** (पृ.१) में हुआ है-''**वन्दे नमस्करोमि। कः? कर्त्ताहमुमास्वामिनामाचार्यः।**'' इस पर प्रकाश डालते हुए पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार '**जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश**' में '**उमास्वाति या उमास्वामी?**' नामक लेख (पृ.१०८) में लिखते हैं—''विक्रम की १६ वीं शताब्दी से पहले का ऐसा कोई ग्रन्थ अथवा शिलालेख आदि अभी तक मेरे देखने में नहीं आया, जिसमें तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का नाम उमास्वामी लिखा हो। हाँ, १६वीं शताब्दी के बने हुए श्रुतसागरसूरि के ग्रन्थों में इस नाम का प्रयोग जरूर पाया जाता है। श्रुतसागरसूरि ने अपनी श्रुतसागरी टीका में जगह-जगह पर यही (उमास्वामी) नाम दिया है और **औदार्यचिन्तामणि** नाम के व्याकरण-ग्रन्थ में **श्रीमानुमाप्रभुरनन्तरपूज्यपादः** इस वाक्य में आपने 'उमा' के साथ 'प्रभु' शब्द लगाकर

ओर भी साफ तौर से **उमास्वामी** नाम को सूचित किया है। जान पड़ता है कि 'उमास्वाति' की जगह 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागरसूरि का निर्देश किया हुआ है और उनके समय से ही यह हिन्दीभाषा आदि के ग्रन्थों में प्रचलित हुआ है। और अब इसका प्रचार इतना बढ़ गया है कि कुछ विद्वानों को उसके विषय में बिलकुल ही विपर्यास हो गया है और वे यहाँ तक लिखने का साहस करने लगे हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का नाम दिगम्बरों के अनुसार 'उमास्वामी' और श्वेताम्बरों के अनुसार 'उमास्वाति' है। (पादटिप्पणी–देखो, तत्त्वार्थसूत्र के अँग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना)।''

श्रुतसागरसूरि को प्रमाण मानकर ही तत्त्वार्थसूत्र के मूलपाठ में निम्नलिखित श्लोक जोड़ा जाने लगा—

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसञ्जातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

अनुवाद—तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता, गृद्धपिच्छधारी, गणीन्द्रपद को प्राप्त मुनीश्वर उमास्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

यह श्लोक कितना पुराना है और किस ग्रन्थ का है, इसके विशय में पं० नाथूराम जी प्रेमी का कथन है कि उन्हें इसका कोई पता नहीं है। (देखिये, उनके पूर्वोद्धृत वचन/'अनेकान्त'/वर्ष १/किरण ६-७/पृ. ४०५)। पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री लिखते हैं कि मूल तत्त्वार्थसूत्र की प्रतियो में यह बाद में जोड़ा गया है। (तत्त्वार्थसूत्र /प्रस्तावना/पृ. २२)। किन्तु इस श्लोक के रचनाकाल का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। यह श्लोक सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के सूत्रपाठ में नहीं पाया जाता, न ही इनके कर्त्ताओं ने उमास्वामी को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता बतलाया है। इसके अतिरिक्त श्रवणबेलगोल के ई० सन् १४३३ (शक सं० १३५५) तक के सात शिलालेखों में तथा कर्नाटक के नगर ताल्लुका के ई० सन् लगभग १५३० के शिलालेख में उमास्वामी को नहीं, अपितु **उमास्वाति** को तत्त्वार्थ-सूत्र का कर्त्ता कहा गया है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि उमास्वाति के स्थान में 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग ई० सन् १५३० के बाद प्रचलित हुआ, अत: उपर्युक्त श्लोक ई० सन् १५३० के बाद का है।

दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त श्लोक कर्नाटक के नगर ताल्लुका के १५३० ई० के शिलालेखगत श्लोक से पर्याप्त साम्य रखता है। यथा—

तत्त्वार्थसूत्र-कर्त्तारमुमास्वाति-मुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥

(नगर ताल्लुका-शिलालेख)

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपृच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसञ्जातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

(तत्त्वार्थसूत्र में जोड़ा गया)

इन श्लोकों में **तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारम्** तथा **उमास्वातिमुनीश्वरम्** (**उमास्वामि-मुनीश्वरम्**) और **वन्दे** पदों का जो अत्यन्त साम्य है, उससे सिद्ध होता है कि नगर ताल्लुका के शिलालेखीय श्लोक में ही किञ्चित् परिवर्तन करके दूसरा श्लोक रचा गया है, अत: वह ई० सन् १५३० के बाद का है और रचयिता को 'उमास्वाति' के स्थान में 'उमास्वामी' शब्द के प्रयोग की प्रेरणा निश्चित ही श्री श्रुतसागरसूरिकृत **तत्त्वार्थवृत्ति** से प्राप्त हुई है, क्योंकि इस प्रयोग के लिए और कोई दूसरा साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पट्टावलियों में तथा अन्यत्र भी 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग 'तत्त्वार्थवृत्ति' के अनुकरण से ही प्रचलित हुआ है।

'उमास्वाति' का संशोधित रूप होने के कारण 'उमास्वामी' भी तत्त्वार्थसूत्रकार का वास्तविक नाम नहीं है। अत: सिद्ध है कि आचार्य गृद्धपिच्छ अथवा गृध्रपिच्छाचार्य ही उनका वास्तविक नाम है।

पं० सुखलाल जी संघवी का कथन है कि भाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति ने अपने को **उच्चनागर शाखा** से सम्बद्ध बतलाया है। इस शाखा का दिगम्बरसम्प्रदाय में होने का एक भी प्रमाण नहीं मिलता। (त.सू. / वि.स. / प्रस्ता. / पृ.१७)।

संघवी जी का कथन सही है। उमास्वाति तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के कर्त्ता थे, तत्त्वार्थसूत्र के नहीं, यह पूर्वोद्धृत प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है। अत: उच्चनागर-शाखा या नागरशाखा का दिगम्बरसाहित्य में उल्लेख न होना स्वाभाविक है।

✧✧✧

तृतीय प्रकरण

'तत्त्वार्थ' के सूत्र दिगम्बरमत के विरुद्ध नहीं

दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी एवं श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी तथा डॉ० सागरमल जी का कथन है कि **तत्त्वार्थसूत्र** के निम्नलिखित सूत्र दिगम्बरमत के विरुद्ध हैं—

१. **दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः।** (४/३)।

२. **एकादश जिने।** (९/११)।

३. **मूर्च्छा परिग्रहः।** (७/१७)।

४. **पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः।** (९/४६)।

५. **कालश्चेत्येके।** (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-मान्य पाठ ५/३८)।

पं० सुखलाल जी संघवी ने इन सूत्रों को श्वेताम्बरमत के अनुकूल बतलाया है, तो पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यापनीयमत के अनुकूल, अतः ये विद्वान्, तत्त्वार्थसूत्र को क्रमशः श्वेताम्बरग्रन्थ एवं यापनीयग्रन्थ मानते हैं। (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ. १७/जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ.५३९-५४०)।

किन्तु यह कथन सत्य नहीं है कि उपर्युक्त सूत्र दिगम्बरमत के विरुद्ध हैं। दिगम्बरमत के सर्वथा अविरुद्ध हैं। '**मूर्च्छा परिग्रहः**' और '**एकादश जिने**' सूत्रों के दिगम्बरमत-सम्मत होने की सिद्धि प्रस्तुत अध्याय के प्रथम प्रकरण में **अपरिग्रह की परिभाषा वस्त्रपात्रदिग्रहण-विरोधी** (शीर्षक १.५) तथा **सूत्र में केवलिभुक्ति निषेध** (शीर्षक १.७) नामक अनुच्छेदों में की जा चुकी है। यहाँ शेष तीन सूत्रों के दिगम्बरमत-अविरुद्ध होने के प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

१

बारह स्वर्ग भी दिगम्बरमत में मान्य

श्वेताम्बरपक्ष

श्वेताम्बर विद्वानों का एक तर्क यह है कि तत्त्वार्थसूत्र में कल्पवासी वैमानिक देवों के बारह भेद माने गये हैं, किन्तु कल्पों की संख्या सोलह बतलायी गयी है। यह अन्तर्विरोध संकेत करता है कि तत्त्वार्थसूत्र मूलतः श्वेताम्बराचार्य-रचित है, दिगम्बरों ने उसमें अपनी सोलह कल्पोंवाली मान्यता का प्रक्षेप कर उसका दिगम्बरीकरण करने

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपृच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसञ्जातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

(तत्त्वार्थसूत्र में जोड़ा गया)

इन श्लोकों में **तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारम्** तथा **उमास्वातिमुनीश्वरम्** (**उमास्वामि-मुनीश्वरम्**) और **वन्दे** पदों का जो अत्यन्त साम्य है, उससे सिद्ध होता है कि नगर ताल्लुका के शिलालेखीय श्लोक में ही किञ्चित् परिवर्तन करके दूसरा श्लोक रचा गया है, अत: वह ई० सन् १५३० के बाद का है और रचयिता को 'उमास्वाति' के स्थान में 'उमास्वामी' शब्द के प्रयोग की प्रेरणा निश्चित ही श्री श्रुतसागरसूरिकृत **तत्त्वार्थवृत्ति** से प्राप्त हुई है, क्योंकि इस प्रयोग के लिए और कोई दूसरा साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पट्टावलियों में तथा अन्यत्र भी 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग 'तत्त्वार्थवृत्ति' के अनुकरण से ही प्रचलित हुआ है।

'उमास्वाति' का संशोधित रूप होने के कारण 'उमास्वामी' भी तत्त्वार्थसूत्रकार का वास्तविक नाम नहीं है। अत: सिद्ध है कि आचार्य गृद्धपिच्छ अथवा गृध्रपिच्छाचार्य ही उनका वास्तविक नाम है।

पं० सुखलाल जी संघवी का कथन है कि भाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति ने अपने को **उच्चनागर शाखा** से सम्बद्ध बतलाया है। इस शाखा का दिगम्बरसम्प्रदाय में होने का एक भी प्रमाण नहीं मिलता। (त.सू. / वि.स. / प्रस्ता. / पृ.१७)।

संघवी जी का कथन सही है। उमास्वाति तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के कर्त्ता थे, तत्त्वार्थसूत्र के नहीं, यह पूर्वोद्धृत प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है। अत: उच्चनागर-शाखा या नागरशाखा का दिगम्बरसाहित्य में उल्लेख न होना स्वाभाविक है।

✧✧✧

का प्रयत्न किया है। किन्तु डॉ० सागरमल जी मानते हैं कि वह प्रक्षेप दिगम्बरों ने नहीं किया है, अपितु तत्त्वार्थसूत्र की रचना श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान मातृ-परम्परा (उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा) में हुई थी। उससे वह ग्रन्थ दोनों सम्प्रदायों को उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ और बाद में यापनीयों ने उसमें अपनी सोलह-स्वर्गवाली मान्यता का समावेश कर दिया। यापनीयपरम्परा का यह तत्त्वार्थसूत्र-पाठ दिगम्बरों के पास आया और उन्होंने उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। अपनी इस मान्यता को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—"मेरी दृष्टि में तत्त्वार्थसूत्र की रचना उत्तरभारत की उस निर्ग्रन्थपरम्परा में हुई, जो उसकी रचना के पश्चात् एक-दो शताब्दियों में ही सचेल-अचेल ऐसे दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त हो गई, जो क्रमशः श्वेताम्बर और यापनीय (बोटिक) के नाम से जानी जाने लगी। जहाँ तक दिगम्बरपरम्परा का प्रश्न है, उन्हें यह ग्रन्थ उत्तरभारत की अचेलपरम्परा, जिसे यापनीय कहा जाता है, उससे ही प्राप्त हुआ।" (जै.ध.या.स./पृ. २३९-२४०)।

वे आगे लिखते हैं—"दिगम्बरपरम्परा-मान्य इस पाठ में, जहाँ चतुर्थ अध्याय का **तीसरा सूत्र** श्वेताम्बरपरम्परा के अनुसार वैमानिक देवों के बारह प्रकारों की ही चर्चा करता है, वहीं **उन्नीसवाँ सूत्र** दिगम्बरपरम्परा के अनुसार सोलह देवलोकों के नामों का उल्लेख करता है। इस प्रकार दिगम्बरपरम्परा द्वारा मान्य सूत्रपाठ में ही एक अन्तर्विरोध परिलक्षित होता है। चतुर्थ अध्याय के इन तीसरे और उन्नीसवें सूत्रों का यह अन्तर्विरोध विचारणीय है। यह कहा जा सकता है कि एक स्थान पर तो अपनी परम्परा के अनुरूप पाठ को संशोधित कर लिया गया है और दूसरे स्थान पर असावधानीवश वह यथावत् रह गया है। किन्तु एक स्थान पर प्रयत्नपूर्वक संशोधन किया गया हो और दूसरे स्थान पर उसे असावधानीवश छोड़ दिया गया हो, यह बात बुद्धिगम्य नहीं लगती है। सम्भावना यही है कि दिगम्बर आचार्यों को ये सूत्र या तो इसी रूप में प्राप्त हुए हों अथवा उस परम्परा के सूत्र हों, जो सोलह स्वर्ग मानकर भी वैमानिक देवों के बारह प्रकार मानती हो। हो सकता है, यह यापनीय मान्यता हो।" (जै.ध.या.सा./पृ.३१२)।

दिगम्बरपक्ष

यहाँ डॉक्टर साहब के "**हो सकता है, यह यापनीय मान्यता हो**" ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। अर्थात् वे निश्चितरूप से नहीं कह सकते कि वैमानिक देवों को बारह और कल्पों को सोलह मानना यापनीयों की मान्यता है। **निश्चितरूप से न कह पाने का कारण यह है कि उनके पास इसे सिद्ध करनेवाला एक भी प्रमाण नहीं है**। निष्कर्ष यह कि यह डॉक्टर साहब के मन की कल्पना मात्र है, प्रमाणसिद्ध तथ्य नहीं। वस्तुतः यापनीयपरम्परा का ऐसा एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं

है, जिसमें कल्पों की संख्या बारह या सोलह निर्दिष्ट की गई हो। **षट्खण्डागम, भगवती-आराधना** और **मूलाचार** में कल्पसंज्ञक स्वर्गों की संख्या सोलह बतलाई गई है और **वरांगचरित** में बारह। ये सभी ग्रन्थ दिगम्बराचार्यकृत हैं, यह पूर्व में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। 'वरांगचरित' का दिगम्बराचार्यकृत होना आगे सिद्ध किया जायेगा। अतः दिगम्बर-परम्परा में कल्पसंज्ञक स्वर्गों की संख्या बारह भी मानी गयी है और सोलह भी। दिगम्बरग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती में भी कहा गया है कि कोई आचार्य कल्पों की संख्या १२ बतलाते हैं और कोई सोलह। (ति.प./८/११५)। अतः कल्पवासी देवों के बारह भेद तथा कल्पों की संख्या सोलह मानना दिगम्बरमत के सर्वथा अनुकूल है, विरुद्ध नहीं।

इससे यह सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के मौलिक पाठ में उपर्युक्त दोनों ही सूत्र थे। श्वेताम्बराचार्यों ने जब उसे अपनाया, तब अपने आगमानुसार उसमें सोलह कल्पों के स्थान में बारह कल्प कर दिये। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसा था, तो तीर्थंकर प्रकृतिबन्धक सोलह कारणों के स्थान में श्वेताम्बर-परम्परानुसार बीस कारण क्यों नहीं किये? इसका उत्तर यह है कि श्वेताम्बराचार्यों को कारणों की संख्या सोलह मान लेने में भी कोई सैद्धान्तिक हानि दिखाई नहीं दी होगी, इसलिए उन्होंने उस सूत्र में कोई परिवर्तन नहीं किया। निष्कर्ष यह कि तत्त्वार्थसूत्र में कल्पवासी देवों के बारह भेदों का उल्लेख दिगम्बरमान्यता के विरुद्ध नहीं हैं अतः उसे तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरग्रन्थ होने का हेतु मानना असत्य है।

और डॉक्टर साहब ने जो यह कहा है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना उस सचेलाचेल-परम्परा में हुई थी जिससे श्वेताम्बर और यापनीयसंघ उत्पन्न हुए थे और उसी समान मातृ-परम्परा से उन्हें वह उत्तराधिकार में मिला था, वह सर्वथा कपोलकल्पित है। श्वेताम्बरों और यापनीयों की कोई समान मातृपरम्परा थी ही नहीं, श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) से हुई थी और यापनीयसंघ की श्वेताम्बरसंघ से, यह तथ्य पूर्व (अध्याय २/प्र.३ एवं ४) में सप्रमाण स्थापित किया जा चुका है। अतः जो परम्परा थी ही नहीं, उसमें तत्त्वार्थसूत्र की रचना असंभव है, इसलिए उस परम्परा से उसका श्वेताम्बरों और यापनीयों को प्राप्त होना भी असंभव है।

इसलिए डॉक्टर साहब का यह कथन भी मनगढ़ंत है कि दिगम्बरों को तत्त्वार्थसूत्र की प्राप्ति यापनीयों के माध्यम से हुई थी। पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र में दिगम्बरमत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, अतः उसकी रचना दिगम्बरपरम्परा में ही हुई थी। फलस्वरूप दिगम्बरों को किसी अन्य परम्परा से उसके प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

२

'कालश्चेत्येके' सूत्र मौलिक नहीं

श्वेताम्बरपक्ष

श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र में जो '**कालश्चेत्येके**' (५/३८) सूत्र है, वह दिगम्बरमत के विरुद्ध है, क्योंकि दिगम्बरमत में कालद्रव्य का अस्तित्व निर्विवाद माना गया है, जब कि उपर्युक्त सूत्र में यह बतलाया है कि कुछ आचार्य काल को द्रव्य मानते हैं और कुछ नहीं। काल के द्रव्यत्व के विषय में ये दो मान्यताएँ श्वेताम्बर-मत से सम्बन्ध रखती हैं, अतः सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। (पं० सुखलाल जी संघवी/त.सू./वि.स./प्रस्ता./ पृ. १७)।

दिगम्बरपक्ष

'**कालश्चेत्येके**' सूत्र मौलिक नहीं है। यह निम्नलिखित कारणों से सिद्ध होता है—

श्वेताम्बर-आगमों में काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना गया है, अपितु जीव की पर्यायों को 'काल' संज्ञा दी गयी है।[१५३] और यही श्वेताम्बरों की आगमसम्मत मान्यता है, क्योंकि काल को द्रव्य माननेवाले आचार्य कुछ ही हैं, ऐसा सूत्रकार ने स्वयं कहा है—'**कालश्चेत्येके**।' किन्तु आश्चर्य यह है कि सूत्रकार ने उपर्युक्त आगमप्रमाणित मत का तो ग्रन्थ में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, जब कि कुछेक आचार्यों द्वारा मान्य मत का उल्लेख किया है, जिससे जिज्ञासुओं को तत्त्वार्थसूत्र के अध्ययन से यह ज्ञान नहीं हो पाता कि काल के विषय में श्वेताम्बर-आगमों की मान्यता क्या है?

दूसरी बात यह है कि कुछ श्वेताम्बराचार्यों ने काल को जो छठा द्रव्य माना है, वह नाममात्र का छठा द्रव्य है। उसकी जीव, पुद्गल आदि के समान स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। श्री सिद्धसेनगणी ने उसका अस्तित्व भेदनय से सिद्ध किया है अर्थात् जीव और अजीव तथा उनकी पर्यायों में जो नाम-लक्षण आदि की दृष्टि से भेद है, उसकी अपेक्षा जीव-अजीव की पर्यायों को जीव-अजीव से भिन्न मानकर उन पर्यायों को ही छठा काल द्रव्य-मान लिया गया है, किन्तु द्रव्यनय (अभेदनय) की अपेक्षा,

---

१५३. "किमिदं भंते! कालोत्ति पवुच्चति? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव।" इदं हि सूत्रमस्ति-कायपञ्चकाव्यतिरिक्तकालप्रतिपादनाय तीर्थकृतोपादेशि, जीवाजीवद्रव्यपर्यायः काल इति सूत्रार्थः---। स च वर्तनादिरूपो द्रव्यस्यैव पर्यायः।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ५/३८/पृ. ४३२।

उनकी जीव-अजीव से भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं की है।[१५४] इस प्रकार कालद्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता उन कुछ आचार्यों के मत से भी सिद्ध नहीं होती, जिन्होंने काल को छठा द्रव्य घोषित किया है। निष्कर्ष यह कि **श्वेताम्बर आम्नाय में काल द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता मानी ही नहीं गई है**। श्वेताम्बर विद्वान् स्वयं स्वीकार करते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने निश्चयकाल या मुख्यकाल का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है।[१५५]

इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बरमत के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश के समान काल द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। और जिस द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं है, उसमें '**गुणपर्यायवद् द्रव्यम्**' (त.सू./श्वे./५/३७) यह लक्षण घटित नहीं हो सकता। उसके वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व, ये कार्य भी उपपन्न नहीं हो सकते और उसमें अनन्तसमयरूप पर्यायें भी उत्पन्न नहीं हो सकतीं। अतः '**कालश्चेत्येके**' सूत्र के साथ '**वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य** (त.सू./श्वे./५/२२) तथा '**सोऽनन्तसमयः**' (त.सू./श्वे./५/३९) आदि समस्त कालविषयक सूत्र असंगत हो जाते हैं। इनकी संगति केवल दिगम्बरमान्य '**कालश्च**' (त.सू./दि./५/३९) सूत्र के साथ बैठती है, क्योंकि दिगम्बरपरम्परा में काल को जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश के समान ही स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में '**कालश्च**' पाठ ही मौलिक है। श्वेताम्बराचार्यों ने उसमें '**इत्येके**' जोड़कर अपने मत के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है, किन्तु उन्होंने यह विचार नहीं किया कि ऐसा करने से उपर्युक्त सूत्र असंगत हो जायेंगे।

सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री भी अपनी गवेषणा से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। वे लिखते हैं—"श्वेताम्बर-आगमसाहित्य में जहाँ भी छह द्रव्यों का नाम-निर्देश किया है, वहाँ कालद्रव्य के लिए **अद्धासमय** शब्द प्रयुक्त हुआ है, **काल** शब्द नहीं और अद्धासमय का अर्थ वहाँ **पर्याय** ही लिया गया है, **प्रदेशात्मक द्रव्य** नहीं। तत्त्वार्थभाष्यकार ने भी इसी परिपाटी का निर्वाह किया है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के जिन

---

१५४. "स च विशेषो भेदप्रधानो नयः, तद्वलेन कालोऽपीति, अपिशब्दश्च शब्दार्थः, कालश्च द्रव्यान्तरमागमे निरूपितमिति कथयन्ति—"कति णं भंते! दव्वा पण्णत्ता? गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता, तं जहा–धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए।" विनिवृत्तौ वा तु शब्दः। कस्य व्यावर्तकः? धर्मास्तिकायादिपञ्चकाव्यतिरिक्त-कालपरिणतिवादिनो द्रव्यनयस्येति।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति ५/३८/पृ. ४३०।

१५५. "सूत्रकाराभिप्रायेण निश्चयकालस्यास्वीकारात् तत्स्वरूपाः कालाणवोऽपि न भवेयुः।---किञ्च यदि कालो मुख्यद्रव्यं स्यात् तर्हि 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' इत्यत्राजीव-रूपेण तस्याप्युल्लेखः करणीयो भवेत्।" हीरालाल : संस्कृत प्रस्तावना/पृ. २५/ तत्त्वार्थ-भाष्यवृत्ति/भा.१।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

सूत्रों में 'काल' शब्द आया है, वहाँ तो उनकी व्याख्या करते हुए 'काल' शब्द का ही उपयोग किया है, किन्तु जिन सूत्रों में 'काल' शब्द नहीं आया है और वहाँ काल का उल्लेख करना उन्होंने आवश्यक समझा है, तो 'काल' शब्द का प्रयोग न कर **अद्धासमय** (५/१/पृ.२४५) शब्द का ही प्रयोग किया है। तत्त्वार्थभाष्य और उसके द्वारा मान्य सूत्रपाठ की ये दो स्थितियाँ हैं, जो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता करती हैं कि प्रारंभ में तो '**कालश्च**' सूत्र का ही निर्माण हुआ होगा, किन्तु बाद में वह बदलकर '**कालश्चेत्येके**' यह रूप ले लेता है।'' (स.सि./प्रस्ता./पृ. ३५)।

इस प्रकार निश्चित होता है कि '**कालश्चेत्येके**' पाठ मौलिक नहीं है, '**कालश्च**' पाठ ही मौलिक है। अतः '**कालश्चेत्येके**' सूत्र के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध नहीं होता, अपितु '**कालश्च**' सूत्र की युक्तिमत्ता सिद्ध हो जाने से दिगम्बरपरम्परा का ही सिद्ध होता है।

३
पुलाकादि मुनि दिगम्बरमत विरुद्ध नहीं

श्वेताम्बरपक्ष

तत्त्वार्थसूत्र में निर्ग्रन्थों के जो पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक भेद बतलाये गये हैं वे दिगम्बरमत से मेल नहीं खाते। (प्रेमी : जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ.५४०, जै.ध.या.स./पृ. ३१४)।

दिगम्बरपक्ष

इसका उत्तर देते हुए माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—''यह ठीक है कि **मूलाचार** और **भगवती-आराधना** में पुलाकादि का कथन नहीं है और न कुन्दकुन्द ने ही उनका कथन किया है। किन्तु इस पर से यह नहीं कहा जा सकता कि निर्ग्रन्थों के ये भेद दिगम्बर-परम्परा को मान्य नहीं। हाँ, उनमें से आदि के पुलाक मुनि अपने मूलगुणों में परिपूर्ण नहीं होते। प्रारंभ में ऐसा होना संभव है। इसी प्रकार बकुश मुनि को अपने शरीरादि का मोह भी रह सकता है। उसका निर्ग्रन्थ दिगम्बरमुनियों की चर्या के साथ विरोध नहीं है। हाँ, **श्रुतसागर** जी ने जो '**संयमश्रुत**' आदि सूत्र की व्याख्या (तत्त्वार्थवृत्ति/९/४७/पृ. ३१६) में यह लिखा है कि असमर्थ मुनि शीतकालादि में वस्त्रादि भी ग्रहण करते हैं और इसे **कुशील मुनि** की अपेक्षा **भगवती-आराधना** के अभिप्राय के अनुसार बतलाया है, वह ठीक नहीं है। **भगवती-आराधना में इस तरह का कोई विधान नहीं है**। हाँ, टीकाकार अपराजित सूरी ने लिखा है कि विशेष अवस्था में अशक्त साधु वस्त्र आदि ग्रहण कर सकते थे। उसी

को श्रुतसागर जी ने भगवती-आराधना के नाम से लिख दिया है। श्रुतसागर जी के समय में दिगम्बर-परम्परा के भट्टारक वस्त्र धारण करने लगे थे। यद्यपि वे साधु नहीं माने जाते थे, तथापि इनकी प्रतिष्ठा वैसी ही थी। मुसलमानों के उपद्रवों के कारण भी साधुओं के नग्नविहार में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगी थीं। ऐसा उन्होंने अपनी **षट्प्राभृत** की टीका में स्पष्ट लिखा है। श्रुतसागर जी के उक्त कथन के मूल में इन सब बातों का भी प्रभाव प्रतीत होता है। अत: उसे **आर्षमत** नहीं माना जा सकता। और इसीलिए पुलाकादि मुनियों की चर्चा को दिगम्बरमत के प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता।" (जै.सा.इ./भा.२/पृ.२६७-२६८)।

पण्डित जी का यह कथन युक्तिसंगत है, जिससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र का **'पुलाकबकुश'** आदि सूत्र (९/४६) दिगम्बरमत-सम्मत ही है।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि **अपराजितसूरि ने भगवती-आराधना की टीका में जो यह लिखा है कि विशेष अवस्था में अशक्त साधु वस्त्र आदि ग्रहण कर सकते हैं, वह उन्होंने श्वेताम्बरमत का उल्लेख किया है।** यह **'भगवती-आराधना'** और **'अपराजितसूरि : दिगम्बराचार्य'** नामक त्रयोदश एवं चतुर्दश अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है।

४

दिगम्बरग्रन्थों में भी केवली का दर्शनज्ञानयौगपद्य

श्वेताम्बरपक्ष

श्वेताम्बर विद्वान् यह तर्क भी देते है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (१/३१/पृ.५६) में केवली भगवान् के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग का युगपत् होना माना गया है, जो दिगम्बर ग्रन्थों में दिखाई नहीं देता। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरग्रन्थ नहीं है। (पं० सुखलाल जी संघवी/त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ. १७)।

दिगम्बरपक्ष

सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, इसलिए भाष्यकार की मान्यता को सूत्रकार की मान्यता नहीं माना जा सकता। जहाँ तक केवली के दर्शनज्ञानयौगपद्य का प्रश्न है, सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट कहा गया है कि छद्मस्थों में दर्शन और ज्ञान क्रम से प्रवृत्त होते हैं और केवली में युगपत् "**साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते, निरावरणेषु युगपत्।**" (२/९) कुन्दकुन्दाचार्य ने भी नियमसार में कहा है—

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥ १६०॥

अनुवाद—"जैसे सूर्य के प्रकाश और ताप एक साथ प्रकट होते हैं, वैसे ही केवली भगवान् के दर्शन और ज्ञान एक साथ प्रवृत्त होते हैं।"

इस प्रकार दिगम्बरग्रन्थों में केवली के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के युगपत् होने की बात स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की गयी है। अतः तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरग्रन्थ ही है।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि माननीय पं० नाथूराम जी प्रेमी, पं० सुखलाल जी संघवी एवं डॉ० सागरमल जी ने **तत्त्वार्थ** के जितने भी सूत्र या सिद्धान्त दिगम्बर-परम्परा के विरुद्ध बतलाये हैं, वे दिगम्बरपरम्परा के विरुद्ध नहीं है, अपितु तत्सम्मत ही हैं। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है।

✧✧✧

चतुर्थ प्रकरण

तत्त्वार्थसूत्र की रचना के आधार दिगम्बरग्रन्थ

१

श्वेताम्बर-आगम तत्त्वार्थसूत्र की रचना के आधार नहीं

श्वेताम्बरपक्ष

श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों का कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना के स्रोत श्वेताम्बर-आगम हैं, दिगम्बर-आगम नहीं। **श्वेताम्बर मुनि उपाध्याय श्री आत्माराम जी** ने सन् १९३४ ई० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय** में उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर हुई है।

श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल संघवी लिखते हैं—"उस प्राचीन समय में जैन-परम्परा में दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे शब्द नहीं थे, फिर भी आचारभेद के सूचक 'नग्न', 'अचेल' (उत्त./२३/१३,२९), 'जिनकल्पिक, 'पाणिप्रतिग्रह' (कल्पसूत्र/९/२८), 'पाणिपात्र' आदि शब्द उत्कट-त्यागवाले दल के लिए तथा 'सचेल', 'प्रतिग्रहधारी' (कल्पसूत्र ९/३१), 'स्थविरकल्प' (कल्पसूत्र/९/६३) आदि शब्द मध्यम-त्यागवाले दल के लिए मिलते हैं।" (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ. १९)।

"---अचेलत्व-समर्थक दल का कहना था कि मूल अंगश्रुत सर्वथा लुप्त हो गया है, जो श्रुत सचेलदल के पास है और जो हमारे पास है, वह सब मूल अर्थात् गणधरकृत न होकर बाद के अपने-अपने आचार्यों द्वारा रचित व संकलित है। सचेल-दलवाले कहते थे कि निःसन्देह बाद के आचार्यों द्वारा अनेकविध नया श्रुत निर्मित हुआ है और उन्होंने नई संकलना भी की है, फिर भी मूल अंगश्रुत के भावों में कोई परिवर्तन या काँट-छाँट नहीं की गयी है।" (वही/प्रस्ता./पृ. २१)।

"---वाचक उमास्वाति स्थविर या सचेल-परम्परा के आचारवाले अवश्य रहे, अन्यथा उनके भाष्य एवं 'प्रशमरति' ग्रन्थ में सचेलधर्मानुसारी प्रतिपादन कदापि न होता, क्योंकि अचेलदल के किसी भी प्रवर मुनि की सचेल-प्ररूपणा बिलकुल सम्भव नहीं। अचेलदल के प्रधान मुनि कुन्दकुन्द ने भी एकमात्र अचेलत्व का ही निर्देश किया है (प्रवचनसार/अधिकार ३), अतः कुन्दकुन्द के अन्वय में होनेवाले किसी अचेल मुनि द्वारा सचेलत्व-प्रतिपादन संगत नहीं। 'प्रशमरति' की उमास्वाति-कर्तृकता भी विश्वसनीय है। स्थविरदल की प्राचीन और विश्वस्त वंशावली में उमास्वाति की उच्चनागर

शाखा तथा 'वाचक' पद का पाया जाना भी उनके स्थविरपक्षीय होने का सूचक है। उमास्वाति विक्रम की तीसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक किसी भी समय में हुए हों, पर **उन्होंने 'तत्त्वार्थ' की रचना के आधाररूप में जिस अङ्ग-अनङ्ग श्रुत का अवलम्बन किया था, वह स्थविरपक्ष को मान्य था**। अचेल-दल उसके विषय में या तो उदासीन था या उसका त्याग कर बैठा था।" (वही/प्रस्ता./पृ. २३)।

इस प्रकार पं० सुखलाल जी संघवी भी मानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना स्थविरपक्ष (सचेलदल) को मान्य अङ्ग-अनङ्ग श्रुत अर्थात् श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर हुई है।

डॉ० सागरमल जी का भी यही मत है। उन्होंने लिखा है—"--- श्वेताम्बर-परम्परा के विद्वान्, जो अङ्ग और अङ्गबाह्य आगमों की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं, तत्त्वार्थसूत्र का आधार अङ्ग और अङ्ग बाह्य आगमसाहित्य को मानते हैं। स्थानकवासी आचार्य आत्माराम जी ने **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय** नामक ग्रन्थ में तत्वार्थसूत्र की रचना का आधार श्वेताम्बरमान्य आगम-साहित्य को बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र की रचना का आगमिक आधार क्या है, इसे आगमों के उद्धरण देकर परिपुष्ट किया है।" (जै.ध.या.स./पृ. २४५)।

दिगम्बरपक्ष

मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों का उपर्युक्त दावा समीचीन नहीं हैं। उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर रचित सिद्ध करने के लिए 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' में जो उदाहरण दिये हैं, उनमें कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं, जो केवल **नन्दीसूत्र** और **अनुयोगद्वारसूत्र** में मिलते हैं। किन्तु इन दोनों ग्रन्थों की रचना पाँचवी शताब्दी ई० (वि० सं० ५२३) में हुई है,[१५६] जिससे स्पष्ट है कि ये ग्रन्थ **तत्त्वार्थसूत्र** के बाद रचे गये हैं। डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार किया है कि **अनुयोगद्वारसूत्र** निश्चित ही तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य से किञ्चित् परवर्ती हैं।[१५७] अतः ये दोनों ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र की रचना के आधार नहीं हो सकते। इनमें तत्त्वार्थसूत्र से साम्य रखनेवाले जो विषय हैं, वे तत्त्वार्थसूत्र से ही उनमें पहुँचे हैं। इसलिए इन दोनों ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के जो बीज बतलाये गये हैं, वे वस्तुतः श्वेताम्बर-आगमों में अनुपलब्ध हैं। उनके बीज दिगम्बर-आगमों में ही हैं। **तत्त्वार्थ** के जिन सूत्रों को **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय** में उपर्युक्त ग्रन्थों पर आधारित बतलाया गया

१५६. देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैनागम साहित्य मनन और मीमांसा/ पृ. ३२८ तथा डॉ० जगदीश चन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास/ पृ. १७१।

१५७. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय/ पृ. ३२२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है, वे इस प्रकार हैं—

१. **नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।** त.सू./१/५ (अनुयोगद्वार/सूत्र ८ पर आधारित)।

२. **निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः।** त.सू./१/७ (अनुयोगद्वार/सूत्र १५१ पर आधारित)।

३. **मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।** त.सू./१/१३ (नन्दि-सूत्र/मतिज्ञान-गाथा ८० पर आधारित)।

४. **तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।** त.सू./१/१४ (नन्दिसूत्र/सूत्र ३ एवं अनुयोगद्वार, सूत्र १४४ पर आधारित)।

५. **अवग्रहेहावायधारणाः।** त.सू./१/१५ (नन्दिसूत्र/सूत्र २७ पर आधारित)।

६. **अर्थस्य।** त.सू./१/१७ (नन्दिसूत्र/सूत्र ३० पर आधारित)।

७. **विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।** त.सू./१/२४ (नन्दिसूत्र/सूत्र १८ पर आधारित)।

८. **विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः।** त.सू./१/२५ (नन्दिसूत्र/मनःपर्ययज्ञानाधिकार पर आधारित)।

९. **मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।** त.सू./१/२६ (नन्दिसूत्र/सूत्र ३७ एवं ५८ पर आधारित)।

१०. **रूपिष्ववधेः।** त.सू./१/२७ (नन्दिसूत्र/सूत्र १६ पर आधारित)।

११. **सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।** त.सू./१/२९ (नन्दिसूत्र/सूत्र २२ पर आधारित)।

१२. **नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः।** त.सू./१/३३। यह निम्नलिखित सूत्र पर आधारित बतलाया गया है—"**सत्तमूलणया पण्णत्ता, तं जहा—णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसूए सद्दे समभिरूढे एवंभूए**" (अनुयोगद्वार/सूत्र १३६ तथा स्थानांग ७/५५२)। किन्तु यह सूत्र इन दोनों श्वेताम्बरग्रन्थों में 'तत्त्वार्थ' के दिगम्बरमान्य पाठ से लिया गया है, क्योंकि श्वेताम्बरमान्य पाठ में पाँच ही मूल नय बतलाये गये हैं—"**नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः**" १/३४।

१३. द्वितीय अध्याय के सूत्र क्रमांक ३, ४, ५, ६, और ७ 'अनुयोगद्वार' के षड्भावाधिकार पर आधारित बतलाये गये हैं।

शाखा तथा 'वाचक' पद का पाया जाना भी उनके स्थविरपक्षीय होने का सूचक है। उमास्वाति विक्रम की तीसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक किसी भी समय में हुए हों, पर **उन्होंने 'तत्त्वार्थ' की रचना के आधाररूप में जिस अङ्ग-अनङ्ग श्रुत का अवलम्बन किया था, वह स्थविरपक्ष को मान्य था**। अचेल-दल उसके विषय में या तो उदासीन था या उसका त्याग कर बैठा था।'' (वही/प्रस्ता./पृ. २३)।

इस प्रकार पं० सुखलाल जी संघवी भी मानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना स्थविरपक्ष (सचेलदल) को मान्य अङ्ग-अनङ्ग श्रुत अर्थात् श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर हुई है।

डॉ० सागरमल जी का भी यही मत है। उन्होंने लिखा है—''--- श्वेताम्बर-परम्परा के विद्वान्, जो अङ्ग और अङ्गबाह्य आगमों की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं, तत्त्वार्थसूत्र का आधार अङ्ग और अङ्ग बाह्य आगमसाहित्य को मानते हैं। स्थानकवासी आचार्य आत्माराम जी ने **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय** नामक ग्रन्थ में तत्वार्थसूत्र की रचना का आधार श्वेताम्बरमान्य आगम-साहित्य को बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र की रचना का आगमिक आधार क्या है, इसे आगमों के उद्धरण देकर परिपुष्ट किया है।'' (जै.ध.या.स./पृ. २४५)।

दिगम्बरपक्ष

मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों का उपर्युक्त दावा समीचीन नहीं हैं। उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर रचित सिद्ध करने के लिए 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' में जो उदाहरण दिये हैं, उनमें कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं, जो केवल **नन्दीसूत्र** और **अनुयोगद्वारसूत्र** में मिलते हैं। किन्तु इन दोनों ग्रन्थों की रचना पाँचवी शताब्दी ई० (वि० सं० ५२३) में हुई है,[१५६] जिससे स्पष्ट है कि ये ग्रन्थ **तत्त्वार्थसूत्र** के बाद रचे गये हैं। डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार किया है कि **अनुयोगद्वारसूत्र** निश्चित ही तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य से किञ्चित् परवर्ती हैं।[१५७] अतः ये दोनों ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र की रचना के आधार नहीं हो सकते। इनमें तत्त्वार्थसूत्र से साम्य रखनेवाले जो विषय हैं, वे तत्त्वार्थसूत्र से ही उनमें पहुँचे हैं। इसलिए इन दोनों ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के जो बीज बतलाये गये हैं, वे वस्तुतः श्वेताम्बर-आगमों में अनुपलब्ध हैं। उनके बीज दिगम्बर-आगमों में ही हैं। **तत्त्वार्थ** के जिन सूत्रों को **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय** में उपर्युक्त ग्रन्थों पर आधारित बतलाया गया

१५६. देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैनागम साहित्य मनन और मीमांसा/ पृ. ३२८ तथा डॉ० जगदीश चन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास/पृ. १७१।

१५७. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय/पृ. ३२२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

है, वे इस प्रकार हैं—

१. **नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।** त.सू./१/५ (अनुयोगद्वार/सूत्र ८ पर आधारित)।

२. **निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः।** त.सू./१/७ (अनुयोगद्वार/सूत्र १५१ पर आधारित)।

३. **मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।** त.सू./१/१३ (नन्दि-सूत्र/मतिज्ञान-गाथा ८० पर आधारित)।

४. **तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।** त.सू./१/१४ (नन्दिसूत्र/सूत्र ३ एवं अनुयोगद्वार, सूत्र १४४ पर आधारित)।

५. **अवग्रहेहावायधारणाः।** त.सू./१/१५ (नन्दिसूत्र/सूत्र २७ पर आधारित)।

६. **अर्थस्य।** त.सू./१/१७ (नन्दिसूत्र/सूत्र ३० पर आधारित)।

७. **विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।** त.सू./१/२४ (नन्दिसूत्र/सूत्र १८ पर आधारित)।

८. **विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः।** त.सू./१/२५ (नन्दिसूत्र/मनःपर्ययज्ञानाधिकार पर आधारित)।

९. **मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।** त.सू./१/२६ (नन्दिसूत्र/सूत्र ३७ एवं ५८ पर आधारित)।

१०. **रूपिष्ववधेः।** त.सू./१/२७ (नन्दिसूत्र/सूत्र १६ पर आधारित)।

११. **सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।** त.सू./१/२९ (नन्दिसूत्र/सूत्र २२ पर आधारित)।

१२. **नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः।** त.सू./१/३३। यह निम्नलिखित सूत्र पर आधारित बतलाया गया है—"**सत्तमूलणया पण्णत्ता, तं जहा—णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसूए सद्दे समभिरूढे एवंभूए**" (अनुयोगद्वार/सूत्र १३६ तथा स्थानांग ७/५५२)। किन्तु यह सूत्र इन दोनों श्वेताम्बरग्रन्थों में 'तत्त्वार्थ' के दिगम्बरमान्य पाठ से लिया गया है, क्योंकि श्वेताम्बरमान्य पाठ में पाँच ही मूल नय बतलाये गये हैं—"**नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः**" १/३४।

१३. द्वितीय अध्याय के सूत्र क्रमांक ३, ४, ५, ६, और ७ 'अनुयोगद्वार' के षड्भावाधिकार पर आधारित बतलाये गये हैं।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

१४. **श्रुतमनिन्द्रियस्य।** त.सू./२/२१ (नन्दिसूत्र/सूत्र २४ पर आधारित)।

१५. **संज्ञिनः समनस्काः।** त.सू./२/२४ (नन्दिसूत्र/सूत्र ४० पर आधारित)।

१६. **द्रव्याणि।** त.सू./५/२ (अनुयोगद्वार, सूत्र १४१ पर आधारित)।

१७. **भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः।** त.सू./५/२८ (अनुयोगद्वार/दर्शनगुणप्रमाण/सू. १४४ पर आधारित)।

१८. **कालश्च।** त.सू./५/३९ (अनुयोगद्वार/द्रव्यगुणपर्यायनाम/सूत्र १२४ पर आधारित)।

इन सूत्रों की आधारभूत सामग्री **नन्दीसूत्र** और **अनुयोगद्वारसूत्र** में ही है, अन्य किसी श्वेताम्बर-आगम में नहीं है। श्वेताम्बर मुनि श्री **सागरानन्दसूरीश्वर** जी महाराज ने **तत्त्वार्थकर्तृतन्मतनिर्णय** याने **तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता श्वेताम्बर या दिगम्बर?** नामक ग्रन्थ लिखा है, जो विक्रम संवत् १९९३ (१९३६ ई०) में श्री ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम से प्रकाशित हुआ था। इसमें मुनिश्री ने विस्तार से यह बतलाया है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र में कौन सी विषयसामग्री किस आगम से ग्रहण की है। वे लिखते हैं—

"श्रीमान् (उमास्वाति जी) के द्वारा इस शास्त्र में कही हुई बातें सूत्रों में स्पष्ट उपलब्ध थीं और अभी भी उपलब्ध हैं। देखिए, सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग के लिए

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
चरणाहिंतो मोक्खो मोक्खे सोक्खं अणाबाहो॥

(उत्तराध्ययनसूत्र/२८/३०)।

"इसी तरह से पण्णवणा जी और उत्तराध्ययन में निसर्गाधिगम सम्यक्त्व का ब्यान (वर्णन) पद १ और उत्तराध्ययन की गाथाओं में है। सत्संख्याक्षेत्रादि के लिए संतपयपरूवणा अनुयोगद्वारों में, ज्ञान का सारा अधिकार नन्दीसूत्र में, नय का अधिकार अनुयोगद्वार में, भावों का अधिकार अनुयोगद्वारों में, जीवों के भेद जीवाभिगम और पण्णवणा में, शरीर का अधिकार प्रज्ञापना में और अनुयोगद्वार में, नरक का अधिकार जीवाभिगम, भगवती जी आदि में, भरतादि क्षेत्रों के लिए जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, शेष समस्त द्वीप-समुद्रों के लिए भगवती जी और अनुयोगद्वार और जीवाभिगम, देवताओं का अधिकार स्थानांग, समवायांग, भगवती, प्रज्ञापना, जीवाभिगमादि, काल और सूर्यचन्द्रादि-भ्रमण आदि के लिए स्थानांग, भगवती, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि, देवताओं की स्थिति के लिए प्रज्ञापना का स्थितपद आदि, धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के लिए अनुयोगद्वार,

स्थानांग, भगवती आदि, पुद्गलों के स्कन्ध वर्ण, शब्द के लिए उत्तराध्ययन, प्रज्ञापना, भगवती, स्थानांगादि, उत्पादादि स्याद्वाद के लिए नयापेक्षयुक्त अनुयोगद्वार, भगवती आदि, द्रव्यादि के लक्षणों के लिए उत्तराध्ययनादि, आश्रव के लिए स्थानांग, भगवती आदि, ज्ञानावरणादि हेतुओं के लिए श्रीभगवतीजी, पंचसंग्रहादि प्रकरण, देशसर्वविरति और भावना के लिए सूगडांग (सूत्रकृतांग), आचारांग, उपासकदशादि, अतिचारों के लिए उपासकदशांग, श्राद्धप्रतिक्रमणादि, कर्म के भेदों के लिए स्थानांग, प्रज्ञापना, भगवती, कर्मप्रकृत्यादि, कर्मों की स्थिति के लिए स्थानांग, समवायांग, प्रज्ञापनादि, संवर के लिए उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचारांगादि, परीषह के लिए उत्तराध्ययन, भगवत्यादि, तपस्या के लिए उत्तराध्ययन, औपपातिक, स्थानांग, भगवत्यादि, ध्यान के लिए आवश्यकनिर्युक्ति, औपपातिक, स्थानांगादि, निर्ग्रन्थों के स्वरूप के लिए भगवती, उत्तराध्ययन, स्थानांगादि, मोक्ष के लिए औपपातिक, प्रज्ञापनादि, इन सबका मतलब यह है कि श्रीमान् उमास्वाति वाचक जी ने तत्त्वार्थसूत्र में जो हकीकत कही है, वे सूत्रों में अनुपलब्ध नहीं है।" (तत्त्वार्थकर्तृतन्मतनिर्णय / पृ. १५७-१५९)।

मुनि जी की भाषा बहुत पुरानी है, इसलिए वाक्य रचना सही नहीं हो पायी है, फिर भी आशय समझ में आ जाता है। उनके इस विवरण से स्पष्ट है कि **नन्दीसूत्र** और **अनुयोगद्वार** में जो विषय निरूपित है, वह अन्य किसी श्वेताम्बर-आगम में उपलब्ध नहीं है। और चूँकि इन दो ग्रन्थों की रचना तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद हुई थी, इसलिए ये भी तत्त्वार्थसूत्र की रचना का आधार नहीं हो सकते। अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त सूत्रों की रचना दिगम्बर-ग्रन्थों के आधार पर हुई है।

२

सूत्रों की दिगम्बरग्रन्थों से शब्द-अर्थ-रचनागत समानता

तत्त्वार्थसूत्र में अनेक सूत्र ऐसे हैं, जिनकी दिगम्बरग्रन्थों में उपलब्ध सूत्रादि से शाब्दिक, आर्थिक और रचनात्मक (अल्पशब्दप्रयोग की) समानता है, श्वेताम्बरग्रन्थों में उपलब्ध सूत्रादि से उनकी विषमता है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यहाँ श्वेताम्बर-आगमों से जो उदाहरण दिये गये हैं, वे सभी **तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय** से उद्धृत हैं—

१

तत्त्वार्थसूत्र — **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**। १/१।

पंचास्तिकाय — **दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो**। १६४।

उत्तरा.सूत्र — **ना दंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।**
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥ २८/३०॥

यहाँ **तत्त्वार्थ** के सूत्र की **पंचास्तिकाय** के गाथासूत्र के साथ शाब्दिक और रचनात्मक (अल्पशब्दप्रयोग की) दृष्टि से अत्यधिक समानता है, किन्तु **उत्तराध्ययनसूत्र** की गाथा के साथ इन दोनों दृष्टियों से बहुत भिन्नता है।

२

तत्त्वार्थसूत्र — **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।** १/२।

समयसार — **जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं।** १५५।

उत्तरा. सूत्र — **तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।**
भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं॥ २८/१५॥

यहाँ भी उपर्युक्त सत्य ही दृष्टिगोचर होता है।

३

तत्त्वार्थसूत्र — **जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।** १/४।

भावपाहुड — **सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं।**
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं॥ ९५॥

स्थानांग — **नवसब्भावपयत्था पण्णत्ते, तं जहा-जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।** ९/६६५।

यहाँ द्रष्टव्य है कि कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में नौ पदार्थ और सात तत्त्व दोनों का कथन किया है, जब कि श्वेताम्बरागम **स्थानांग** में केवल नौ पदार्थों का कथन है। किसी भी श्वेताम्बरागम में सात तत्त्वों की अवधारणा नहीं है। अतः सिद्ध है कि **तत्त्वार्थसूत्रकार** ने उपर्युक्त सूत्र की रचना **भावपाहुड** के आधार पर की है।

४

तत्त्वार्थसूत्र — **नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।** (१/५)।

बोधपाहुड — **णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया।** २८।

अनुयो.द्वा.सूत्र — **आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा-नामावस्सयं ठवणावस्सयं दव्वावस्सयं भावावस्सयं।** १७।

यतः **अनुयोगद्वारसूत्र** पाँचवीं शती ई० की रचना है, अतः स्पष्ट है कि **तत्त्वार्थ** का उपर्युक्त सूत्र कुन्दकुन्दकृत **बोधपाहुड** के आधार पर रचा गया है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

५

तत्त्वार्थसूत्र — **मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।** १/९।

नियमसार — **सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।** १२।

स्थानांग — **पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—आभिनिबोहियणाणे सुयणाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे।** ५/३/४६३।

मति शब्द के साम्य से सिद्ध है कि **तत्त्वार्थ** के प्रस्तुत सूत्र की रचना **नियमसार** के आधार पर हुई है। इसी कारण '**मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च**' (त.सू.१/३१) सूत्र भी **नियमसार** की उपर्युक्त गाथा (१२) के '**अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव**' इस उत्तरार्ध से प्रेरित है।

६

तत्त्वार्थसूत्र — **मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।** १/१३।

षट्खंडागम — **सण्णा सदी मदी चिंता चेदि।** पु.१३/५,५,४१/पृ. २४४।

एवमाभिणिबोहिय---। ष.खं./पु.१३/५,५,४२/पृ. २४४।

नन्दीसूत्र — **सन्ना सई मई पन्ना सव्वं आभिणिबोहियं।** ८०।

यहाँ **चिन्ता** शब्द की समानता **षट्खण्डागम** के सूत्र के साथ है। **नन्दीसूत्र** में उसकी जगह पर **पन्ना** (प्रज्ञा) शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अपेक्षा से तत्त्वार्थसूत्र की नन्दीसूत्र से भिन्नता है।

७

तत्त्वार्थसूत्र — **औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च।** २/१।

पंचास्तिकाय — **उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।**
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसुय अत्थेसु विच्छिण्णा॥ ५६॥

स्थानांग — **छव्विधे भावे पण्णत्ते, तं जहा—ओदइये उपसमिए, खइए खयोवसमिए पारिणामिए सन्निवाइए (सन्निपातिकः)।** ६/५३७।

यहाँ भावों की संख्यात्मक समानता (पाँच) सिद्ध करती है कि **तत्त्वार्थ** का उपर्युक्त सूत्र **पञ्चास्तिकाय** को देखकर बनाया गया है।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

८

तत्त्वार्थसूत्र — **उपयोगो लक्षणम्।** २/८।

पंचास्तिकाय — **जीवा---उवओगलक्खणा।** १०९।

भगवतीसूत्र — **उवओगलक्खणेणं जीवे।** २/१०।

तत्त्वार्थ के इस सूत्र का जैसा साम्य **भगवतीसूत्र** के साथ है, वैसा ही **पञ्चास्तिकाय** के साथ है, तथापि पूर्वोक्त सूत्रों का साम्य श्वेताम्बरग्रन्थों के साथ न होकर दिगम्बरग्रन्थों के साथ है, अतः यह सूत्र भी **पञ्चास्तिकाय** से ही अनुकृत किया गया है, यह स्वतः सिद्ध होता है।

९

तत्त्वार्थसूत्र — **संसारिणो मुक्ताश्च।** २/१०।

पंचास्तिकाय — **जीवा संसारत्था णिव्वादा---।** १०९।

स्थानांग — **दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा—सिद्धा चेव असिद्धा चेव।** २/१/१०१।

यहाँ **संसारी** शब्द की समानता सिद्ध करती है कि **तत्त्वार्थ** के प्रस्तुत सूत्र की संरचना **पञ्चास्तिकाय** के आधार पर हुई है।

१०

तत्त्वार्थसूत्र — **स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः।** २/२०।

प्रवचनसार — **फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।**
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति॥ १/५६॥

स्थानांग — **पंच इंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा—सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे।** ५/३/४४३।

तत्त्वार्थ के प्रस्तुत सूत्र का शब्दसाम्य और शब्दक्रमसाम्य **प्रवचनसार** की गाथा से ही है, **श्वेताम्बर-स्थानांग** के सूत्र से नहीं। अतः उसकी रचना **प्रवचनसार** की गाथा के ही आधार पर हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

११

तत्त्वार्थसूत्र — **भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्।** १/२१।

षट्खंडागम — **जं तं भवपच्चइयं तं देवणेरइयाणं।** पु.१३/५-५-५४/पृ.२९२।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

स्थानांग — **दोण्हं भवपच्चइए पण्णत्ते, तं जहा—देवाणं चेव नेरइयाणं चेव।** २/१/७१।

त.सू.(श्वे.) — **भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।** १/२२।

यहाँ दिगम्बरमान्य **तत्त्वार्थ** के सूत्र का **देवनारकाणाम्** यह शब्दक्रम **षट्खण्डागम** के अनुसार है। **स्थानांगसूत्र** का भी उसी प्रकार है, जबकि **भाष्यमान्य सूत्र** का शब्दक्रम इन तीनों से विपरीत है। इससे सिद्ध है कि दिगम्बरमान्य सूत्रपाठ ही परम्परागत है।

१२

तत्त्वार्थसूत्र — **मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।** १/३१।

पंचास्तिकाय — **कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णिवि णाणेहिं संजुत्ते।** ४१।

प्रज्ञापना — **अण्णाणपरिणामेणं भंते कतिविधे पण्णत्ते? गोयमा! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—मइअण्णाणपरिणामे, सुयअण्णाणपरिणामे, विभंगणाणपरिणामे।** पद १३/३/३/२८७।

यहाँ **तत्त्वार्थ** का सूत्र सूत्रात्मक दृष्टि से **पंचास्तिकाय** के अत्यन्त निकट है।

१३

तत्त्वार्थसूत्र — **देवाश्चतुर्णिकायाः।** ४/१।

पंचास्तिकाय — **देवा चउण्णिकाया।** ११८।

व्याख्याप्रज्ञ. — **चउव्विहा देवा पण्णत्ता, तं जहा—भवणवइ, वाणमंतर, जोइस, वेमाणिया।** २/७।

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे तत्त्वार्थसूत्रकार ने **पंचास्तिकाय** के शब्दों को संस्कृत में रूपान्तरित करके **तत्त्वार्थसूत्र** में रख दिया हो।

१४

तत्त्वार्थसूत्र — **असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्।** ५/८।

नियमसार — **धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु।** ३५।

स्थानांग — **चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला असंखेज्जा पण्णत्ता, तं जहा- धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए लोगागासे, एगजीवे।** ४/३/३३४।

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक टस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in

यहाँ ऐसा लगता है जैसे **नियमसार** की गाथा में ही किंचित् शब्दिक परिवर्तन कर **तत्त्वार्थ** के प्रस्तुत सूत्र की रचना कर दी गयी हो। ऐसी समानता **स्थानांग** के सूत्र के साथ तनिक भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

१५

तत्त्वार्थसूत्र — **संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।** ५/१०।

नियमसार — **संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।** ३५।

प्रज्ञापना — **अणंता संखिज्जपएसिया खंधा, अणंता असंखिज्जपएसिया खंधा, अणंता अणंतपएसिया खंधा।** पद ५।

यहाँ भी **तत्त्वार्थ** के सूत्र का शाब्दिक और सूत्रात्मक साम्य **नियमसार** के गाथांश से ही है, **प्रज्ञापना** के वाक्य से नहीं।

१६

तत्त्वार्थसूत्र — **आकाशस्यावगाहः।** ५/१८।

प्रवचनसार — **आगासस्सावगाहो।** २/४१।

व्याख्याप्रज्ञ. — **अवगाहणालक्खणे णं आगासत्थिकाए।** १३ /४/४८१।

यहाँ भी **प्रवचनसार** के ही शब्द संस्कृत में रूपान्तरित कर दिये गये हैं। **तत्त्वार्थ** का यह सूत्र शाब्दिक और सूत्रात्मक दृष्टि से **व्याख्याप्रज्ञप्ति** से बहुत भिन्न है।

१७

तत्त्वार्थसूत्र — **स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।** ५/२३।

पंचास्तिकाय — **वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसा हि।** ५१।

व्याख्याप्रज्ञ. — **पोग्गले पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे पण्णत्ते।** १२ / ५/ ४५०।

यहाँ भी **पञ्चास्तिकाय** की गाथा के साथ ही **तत्त्वार्थ** के सूत्रगत शब्दों का साम्य है, **व्याख्याप्रज्ञप्ति** के सूत्र के साथ नहीं।

१८

तत्त्वार्थसूत्र — **अणवः स्कन्धाश्च।** ५/२५।

नियमसार — **अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।** २०।

स्थानांग — **दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तं जहा—परमाणुपोग्गला नोपरमाणु-पोग्गला चेव।** २/३/८२।

यहाँ सूत्र में प्रयुक्त **स्कन्ध** शब्द **नियमसार** के **खंध** से समानता रखता है। **स्थानांग** में इस शब्द का प्रयोग ही नहीं है।

१९

तत्त्वार्थसूत्र — **सद् द्रव्यलक्षणम्।** ५/२९। **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।** ५/३०। **गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।** ५/३८।

पंचास्तिकाय — **दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।**
गुणपज्जयासयं वा जं तंभण्णंति सव्वण्हू॥ १०॥

व्याख्याप्रज्ञ. — **सद्दव्वं वा।** ८/९।

स्थानांग — **माउयाणुओगे उपन्ने वा विगए वा धुवे वा।** १०।

उत्तरा. सूत्र — **गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा।**
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे॥ २८/६॥

यहाँ **तत्त्वार्थ** के उपर्युक्त सूत्रों का एक-एक शब्द और वाक्यरचना **पञ्चास्तिकाय** की गाथा से ज्यों की त्यों मिलती है। वस्तुतः सूत्रकार ने गाथा को ही विभाजित कर तीन सूत्रों का निर्माण किया है। ऐसा साम्य **स्थानांग** और **उत्तराध्ययन** के सूत्रों के साथ नहीं है।

पं० सुखलाल जी संघवी ने भी इस बात को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—"विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी के माने जानेवाले **कुन्दकुन्द** के प्राकृतवचनों के साथ **तत्त्वार्थ** के संस्कृत सूत्रों का कहीं तो पूर्ण और कहीं बहुत ही कम सादृश्य है। श्वेताम्बर-सूत्रपाठ में द्रव्य के लक्षणवाले दो ही सूत्र हैं—'**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**' तथा '**गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।**' इन दोनों के अतिरिक्त द्रव्य का लक्षणविषयक एक तीसरा सूत्र दिगम्बर-सूत्रपाठ में है—'**सद् द्रव्यलक्षणम्।**' ये तीनों दिगम्बर-सूत्रपाठगत सूत्र कुन्दकुन्द के **पंचास्तिकाय** की निम्न प्राकृतगाथा में पूर्णरूप से विद्यमान हैं—'**दव्वं सल्लक्खणियं** ---।' इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थों के साथ तत्त्वार्थसूत्र का जो शाब्दिक तथा वस्तुगत महत्त्वपूर्ण सादृश्य है, वह आकस्मिक तो नहीं ही है।" (त.सू./वि. स./प्रस्ता./पृ. ९-१०)।

किन्तु डॉ० सागरमल जी मानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकार कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती हैं, इसलिए तत्त्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जो समानतत्त्व हैं, वे तत्त्वार्थसूत्र

श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति पारमार्थिक एवं धार्मिक ट्रस्ट, इन्दौर (म.प्र.)
फोन : 0731-2571851 मो. : 8989505108 e-mail : sanskarsagar@yahoo.co.in